तृतीयाध्याये पञ्चमः पादः

[ध्रुवाज्यादिभिः स्विष्टकृदननुष्ठानाऽधिकरणम् ॥१॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ। तत्र श्रूयते—उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति[1] इति। तथा इडामुपह्वयति[2] इति। तथा अन्यानि शेषकार्याणि। तत्र सन्देहः—किमाज्यादुपांशुयाजद्रव्यात् स्विष्टकृदिडमवदातव्यम्, उत न इति ? किं प्राप्तम् ?

विशेष—विगत चतुर्थपाद के अन्त में हवि के शेषकार्यों का विचार किया है। उसे ही प्रस्तुत पांचवें पाद में विस्तार से कहते हैं।

व्याख्या – **दर्शपौर्णमास याग हैं। वहां सुना जाता है**—उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति (=**पुरोडाश के उत्तर अर्धभाग से स्विष्टकृत् अग्नि के लिये अवदान=हवि का ग्रहण करता है**)। **तथा** इडामुपह्वयति (=**इडा का उपह्वान करता है**), **तथा अन्य शेषकार्य हैं। इन में सन्देह है— क्या उपांशुयाज के** द्रव्य **आज्य से स्विष्टकृत् और ईडा का अवदान करना चाहिये, अथवा नहीं करना चाहिये ? क्या** प्राप्त होता है ?

विवरण इडामुपह्वयति—इडापात्री के बीच में संकुचित होने से दो भाग से होते हैं। इस का दक्षिण से उत्तर तक आज्यस्थालीस्थ आज्य से उपस्तरण (=**चुपड़**) **कर आग्नेय और** अग्नीषोमीय पुरोडाश में से पहले आग्नेय पुरोडाश के दक्षिण भाग से मन्त्रपूर्वक,तथा उत्तरभाग से विना मन्त्र के अवदान करके इडापात्री के पूर्वभाग में रखा जाता है। **तदनन्तर अग्नीषोमीय पुरो**डाश के दक्षिण और पूर्व भाग से पूर्ववत् अवदान करके पश्चिम भाग में रखा जाता है। **तत्पश्चात्** इनका आज्यस्थालीस्थ आज्य से अभिघारण (=ऊपर से घी डालना) **किया जाता है। यह इडावदान** कहाता है। अध्वर्यु इडापात्री को प्रागग्र अथवा उदगग्रमुख ग्रहण करके मुख वा नासिका के बराबर धारण करता हुआ मन्त्र जपता है। इसे **इडोपह्वान** कहते हैं। (**द्र०—श्रौत-पदार्थ**-निर्वचन, पृष्ठ ३२,३३, संख्या २७०, २७१,२७४,२७६)। यह इडोपह्वान भी **स्विष्टकृद् अवदान** के समान शेषकार्य है। **आज्याद् उपांशुयाजद्रव्यात्**—पूर्णमास में तीसरा प्रधान याग **उपांशुयाज है।** इस का द्रव्य घृत है (द्र०—मी० भाष्य २।२।३, भाग २, पृष्ठ ४४६)। **इस से भी आग्नेय अग्नी**षोमीय पुरोडाश के समान स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिये वा नहीं, **इस विषय**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तै० सं० २।६।६।५॥

२. इडामुप ह्वयते। तै० सं० २।६।७।३॥

आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥१॥ (पू०)

अवदातव्यमिति। कुतः? सर्वसंयोगात्। साधारणप्रकरणसमाम्नानात्, सर्वाणि शेषकार्याणि। अपि च, सर्वसंयोगो भवति—तद्यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति[1] इति। तस्मादाज्यादपि शेषकार्याणि क्रियन्ते ॥१॥

कारणाच्च ॥२॥ (पू०)

कारणं श्रूयते—देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन्—हव्यं नो वह इति, सोऽब्रवीद्वरं वृणै भागो मेऽस्त्विति, वृणीष्वेत्यब्रुवन्,सोऽब्रवीदुत्तरार्द्धादेव मह्यं सकृत् सकृदवद्याद्[1] इति। तुल्यं कारणमन्येषाम् आज्यस्य चाऽर्थवादे सङ्कीर्त्यते। तस्मादप्याज्याद् अवदातव्यमिति ॥२॥

का इस अधिकरण में विचार किया है। स्विष्टकृदिडम्—यहां समाहार द्वन्द्व होने से एकवचन और क्रम की विवक्षा होने से इडा का पूर्व प्रयोग नहीं होता है।

आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(आज्यात्) उपांशुयाज के आज्य से (च) भी स्विष्टकृत् अवदानादि शेषकार्य करने चाहियें। (सर्वसंयोगात्) सर्व सामान्य प्रकरण में स्विष्टकृत् अवदान आदि कार्यों का निर्देश होने से, सब के साथ संयोग होने से।

व्याख्या—[स्विष्टकृत् के लिये उपांशुयाज के आज्य द्रव्य से भी] अवदान करना चाहिये। किस हेतु से? सब के साथ संयोग होने से। साधारण (=सामान्य) प्रकरण में अवदान का पाठ होने से, सब हवियों के शेषकार्य हैं। और भी, सब हवियों के साथ अवदान का संयोग होता है—तद् यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति (=जो यह सब हवियों से अवदान करता है)। इस कारण [उपांशुयाज के] आज्य से भी शेषकार्य [अवदान और इडोपह्वान आदि] किये जाते हैं ॥१॥

कारणाच्च ॥२॥

सूत्रार्थः—(कारणात्) अवदान के कारण [तुल्य होने] से, (च) भी उपांशुयाज के आज्य से भी अवदानादि शेषकार्य करने चाहियें।

व्याख्या—[अवदान का] कारण सुना जाता है—देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन्—हव्यं नो वह इति, सोऽब्रवीद् वरं वृणै भागो मेऽस्त्विति, वृणीष्वेत्यब्रुवन्, सोऽब्रवीद् उत्तरार्धादेव मह्यं सकृत् सकृत् समवद्यादिति। (=देवों ने स्विष्टकृत् अग्नि से कहा—हमारी हवियों का वहन करो=हमें प्राप्त कराओ। स्विष्टकृत् अग्नि ने कहा—वर मांगता हूं—आपकी हवियों में मेरा भाग होवे। देवों ने कहा—वर मांगो। स्विष्टकृत् अग्नि ने कहा—आपकी हवियों के उत्तरार्ध से ही मेरे लिये एक-एक बार अवदान किया जाये। इस अर्थवाद में अन्य हवियों के, तथा आज्य के [स्विष्टकृत् के लिये] अवदान का तुल्य कारण कहा है। इस से भी आज्य से स्विष्टकृत् के लिये अवदान करना चाहिये।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

एकस्मिन् समवत्तशब्दात् ॥३॥ (पू०)

आदित्ये चरौ प्रायणीये श्रूयते—'अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति' इति। एकस्माच्च[1] हविषोऽवद्यतीति, मिश्रस्य अन्येन हविषा समवद्यतीति। यदि चाज्यादपि स्विष्टकृतेऽवदीयेत, ततश्चोदकेन प्रायणीये आज्यावदाने क्रियमाणे समवद्यतीत्युपपद्यते। इतरथा चरोरेकस्माद् अवद्यतीत्यभविष्यत् ॥३॥

विवरण—**सकृत् सकृत् समवद्यात्**—यहां वीप्सा में द्विर्वचन है। इससे सभी हवियों से स्विष्टकृत् के लिये अवदान जाना जाता है। **तुल्यं च कारणम्**—स्विष्टकृत् की भाग-प्राप्ति का 'उस-उस देवता के लिये हवि का वहन करना' जो कारण कहा है, वह आज्य में भी समान है ॥२॥

एकस्मिन् समवत्तशब्दात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(एकस्मिन्) एकत्र सम्मेलन में (समवत्तशब्दात्) समवत्त शब्द के होने से।

व्याख्या—**प्रायणीय इष्टि में अदिति देवतावाले चरु में सुना जाता है—अग्नये स्विष्ट**कृते समवद्यति (=**स्विष्टकृत् अग्नि के लिये एकत्र अवदान करता है**)। **एक हवि से अवदान के लिये** 'अवद्यति' **का प्रयोग होता है, अन्य हवि से मिले हुये अवदान के लिये** 'समवद्यति' **कहा जाता है। यदि आज्य से भी स्विष्टकृत् के लिये अवदान किया जाये, तो चोदक (=अतिदेश) से प्रायणीय इष्टि में आज्य से अवदान किये जाने पर** 'समवद्यति' **यह प्रयोग उपपन्न होता है। अन्यथा चरु हवि के एक होने से** 'अवद्यति' **ऐसा प्रयोग होता।**

विवरण—**आदित्यै चरौ प्रायणीये**—प्रायणीयेष्टि सोमयाग में दूसरे दिन की जाती है। इसमें अदितिदेवताक चरु के साथ चार आज्ययाग और हैं—**आज्येन देवताश्चतस्रो यजति पथ्यां स्वस्ति, अग्निं, सोमं, सवितारं च।** (कात्या० श्रौत ७।५।१३)। आप० श्रौत १०।२१।११ में उक्त देवताओं के साथ दिशा का नियम इस प्रकार कहा है—**पथ्यां स्वस्ति पुरस्तात्, अग्निं दक्षिणतः, सोमं पश्चात्, सवितारमुत्तरतः, मध्येऽदितिम्। एकस्माच्च हविषोऽवद्यति'**—इसका तात्पर्य है—एक ही हवि से अवदान करना होवे, तो **'अवद्यति'** का प्रयोग होता है। **मिश्रस्य चान्येन हविषा समवद्यति**—इस का अभिप्राय यह है कि यदि अन्य हवियों के साथ अवदान करना होता है, तो वहां **'समवद्यति'** का व्यवहार होता है। यहां 'सम्' सम्मेलन अर्थ में है। **यदि चाज्यादपि ततश्चोदकेन**—इस का तात्पर्य यह है कि यदि प्रकृति दर्शपूर्णमास में उपांशुयाज के आज्य से भी अवदान किया जाये, तभी **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** इति अतिदेश से प्रायणीयेष्टि में आज्य से अवदान की

---

१. अनुपलब्धमूलम्। शाखान्तरीयं वचनमिति कुतुहलवृत्तिकारः।

२. 'आज्यादेस्माच्च' इति क्वाचित्कोऽपपाठः।

आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥४॥ (पू०)

ध्रौवे च आज्ये स्विष्टकृदर्थवादो भवति—**अवदाय अवदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। न हि ततः परामाहुतिं यक्ष्यन् भवति**[1] इति, प्रत्यभिघारणस्य एतत् प्रयोजनं दर्शयति—ततः परामाहुतिं होष्यति इति। **सौविष्टकृते वृत्ते** ततः पराहुतिर्नास्ति। इति न प्रत्यभिघार्येत। स्विष्टकृदर्थे ध्रुवायां भवति प्रत्यभिघारणमिति दर्शयति ॥४॥

प्राप्ति होने पर ही चरु-सम्बन्धी स्विष्टकृद् के अवदान के लिये **समवद्यति** का प्रयोग हो सकता है। यदि एक चरु से ही स्विष्टकृत् के लिये अवदान होवे, तो 'अवद्यति' का प्रयोग होना चाहिये ॥३॥

आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥४॥

सूत्रार्थः—(च) और (आज्ये) ध्रुवा में गृहीत आज्य में (स्विष्टकृदर्थवादस्य) स्विष्टकृद्विषयक अर्थवाद का (दर्शनात्) दर्शन होने से, उपांशुयाज के आज्य से भी अवदान होता है।

व्याख्या—**ध्रुवा नामक स्रुच् में गृहीत आज्य के विषय में स्विष्टकृद् विषयक अर्थवाद होता है**—अवदाय अवदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। नहि ततः परामाहुतिं यक्ष्यन् भवति (=**ध्रुवा से आज्य का अवदान करके ध्रुवा में प्रत्यभिघारण करता है। स्विष्टकृत् के लिये अवदान करके ध्रुवा में प्रत्यभिघारण नहीं करता। क्योंकि उस स्विष्टकृत् से उत्तर आहुति देने के लिये नहीं होती है)। यह अर्थवाद ध्रुवा में प्रत्यभिघारण का प्रयोजन दर्शाता है—उस से आगे आहुति देनी होती है। स्विष्टकृद् याग के करने पर उस से परे आहुति नहीं है। इसलिये ध्रुवा में प्रत्यभिघार नहीं किया जाये। स्विष्टकृत् के लिये ध्रुवा में आज्य होता है, अपः प्रत्यभिघारण उक्त वचन दर्शाता है।**

विवरण—चतुर्ध्रुवायाम्—(तै० ब्रा० ३।३।५।३) वचन के अनुसार ध्रुवा नाम्नी स्रुक् में आज्यस्थाली से चार स्रुव घृत लेकर रखा जाता है। आहुति के लिये जितना भी घृत जुहू में लिया जाता है, वह ध्रुवा से ही लिया जाता है।[2] अतः ध्रुवास्थ आज्य की पूर्ति के लिये उतना ही घृत आज्य-स्थाली से लेकर डाला जाता हैं। यही ध्रुवा का **प्रत्यभिघारण** कहाता है। इस प्रकार ध्रुवा में सदा चार स्रुव घृत विद्यमान रहता है। अत एव इसे 'ध्रुवा' कहते हैं। **प्रयोजनं दर्शयति**—यह प्रत्यभिघारण दर्शाता है कि प्रदीयमान आहुति के आगे भी कोई आहुति देनी है। स्विष्टकृद् आहुति के पश्चात् कोई आहुति नहीं दी जाती है। अतः स्विष्टकृत् के लिये ध्रुवा से आज्य लेने के पश्चात् प्रत्यभिघारण नहीं किया जाता है ॥ ४ ॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम् (अनु०।

अशेषत्वात् तु नैवं स्यात् सर्वादानादशेषता ॥५॥ (उ०)

नैव ध्रौवाज्यात् स्विष्टकृदिडम् अवदातव्यमिति । कस्मात् ? अशेषत्वात् । कुतो न अस्य शेषः ? सर्वादानात् ॥५॥

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥६॥ (उ०)

ननु उपांशुयाजार्थं गृहीते यद् ध्रुवायां शिष्टं, तत् शेषभूतम् । नैतत् । साधारणं

अशेषत्वात् तु नैवं स्यात् सर्वादानादशेषता ॥५॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है । (अशेषत्वात्) ध्रुवा में उपांशुयाज के आज्य का शेष न रहने से, (एवं) इस प्रकार अर्थात् आज्य से भी स्विष्टकृत और इडा के लिये अवदान का ग्रहण (न) नहीं (स्यात) होवे । (सर्वादानात्) ध्रुवा में जो आज्य है, वह सभी यागों के लिये ग्रहण किया हुआ होने से, उपांशुयाज के आज्य के (अशेषता) शेषभाव का अभाव है । अर्थात् ध्रुवा में अवशिष्ट आज्य उपांशुयाज का शेष नहीं है ।

विशेष—सर्वादानात्—ध्रुवा नामक स्रुक् में जो आज्य होता है, वह **सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्** (तै० ब्रा० ३।३।५।५) वचनानुसार सभी यागों के लिये होता है । इस कारण ध्रुवा में उपांशुयाज का आज्य शेष नहीं रहता है ।

व्याख्या—**ध्रौव आज्य से स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं करना चाहिये । किस हेतु से ? [उपांशुयाज के आज्य का] शेष न होने से । इस (=उपांशुयाज के आज्य) का शेष किस कारण नहीं है ? [ध्रुवा में] सब यागों के लिये घृत का ग्रहण होने से ।**

विवरण—स्विष्टकृदिडम्—यहां समाहारद्वन्द्व है । समाहारद्वन्द्व के नपुंसकलिङ्ग होने से **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (अष्टा० १।२।४७) से इडा के आकार को ह्रस्व हो जाता है । **सर्वादानात्**—द्रष्टव्य सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' वक्तव्य ॥५॥

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(ध्रुवायाम्) ध्रुवा में जो आज्य है, वह उपांशुयाज के लिये के लिये गृहीत आज्य **का शेष** (न) नही (**स्यात्**) होवे । किस कारण से ? (साधारण्यात्) ध्रौव आज्य के सब यागों **के लिये** साधारण=समान होने से ।

व्याख्या—(आक्षेप) **उपांशुयाज के लिये ध्रुवा में गृहीत आज्य का जो बचा हुआ आज्य है, वह उपांशुयाज का शेषभूत है [उससे स्विष्टकृत् और इडा का अवदान सम्पन्न होगा] ।** (समाधान) **ऐसा नहीं है, अर्थात् ध्रुवा में अवशिष्ट आज्य उपांशुयाज का शेष नहीं है । वह**

हि तत् उपांशुयाजाय अन्येभ्यश्च प्रयोजनेभ्यः। यावद् आज्येन यष्टव्यं, तत् तद् आज्यं प्रयोजयति। यस्य यस्याज्यं, तस्य तस्यैवं ग्रहीतव्यं संस्कर्तव्यञ्चेति। तस्मात् साधारणं ध्रौवम् आज्यम्। दर्शयति च—**सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते, यद् ध्रुवायाम् आज्यम्**[1] इति। किमतो यद्येवम् इति? यत् साधारणम्, उपांशुयाजाय अवत्तं ध्रुवायामाज्यम्, तेन अन्यानि प्रयोजनानि कार्य्याणि, न तु तत् प्रतिपाद्यम्। यद्धि कृतप्रयोजनम् आकीर्णकरमवतिष्ठते, तत् प्रतिपादयितव्यमिति। क्वचिच्च यत् प्रतिपादयितव्यं, तद् एवं प्रतिपादयितव्यम्। तस्माद् न ध्रुवायामुपांशुयाजस्य सौविष्टकृतस्य कश्चित् शेषः प्रतिपादनीयः। यथा यत्रैकस्यामुखायां बहूनामोदनः श्रुतो भवति, तत्र एकस्मिन् भुक्तवति, न तस्य शिष्टं भृत्येभ्यः प्रतिपादनीयमुखायामस्तीति गम्यते। प्रयोजनवद्धि तत्। एवमुपांशुयाजाज्येऽपि द्रष्टव्यमिति ॥६॥

तो उपांशुयाज के लिये, तथा अन्य प्रयोजनों के लिये गृहीत आज्य का साधारण है, अर्थात् सब का शेष है। जितना भी आज्य से यष्टव्य है, वह सब आज्य को प्रयोजित करता है। जिस-जिस [याग का] आज्य है, उस-उस का आज्य इसी प्रकार [ध्रुवा में] गृहीत करना चाहिये, और [प्रत्यभिघारण से] संस्कृत करना चाहिये। इस कारण ध्रुवा में बचा हुआ आज्य सब का साधारण है। यह [वैदिक वचन] दर्शाता भी है—सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते, यद् ध्रुवायामाज्यम् (=सभी यज्ञों के लिये ग्रहण किया जाता है, जो ध्रुवा में आज्य है)। इस से क्या, यदि ऐसा है तो ? जो उपांशुयाज के लिये अवदान किया हुआ ध्रुवा में आज्य है, वह साधारण है। उस से अन्य प्रयोजन करने चाहियें, उस का प्रतिपादन (=प्रतिपत्ति कर्म) नहीं करना चाहिये। जो कृतप्रयोजन है (=जिस से प्रयोजन सिद्ध कर लिया है), आकीर्णकर (=निष्प्रयोजन बचा हुआ कूड़ा करकटरूप) बचा रहता है, उसका प्रतिपादन (=प्रतिपत्ति कर्म) करना चाहिये। कहीं भी जो प्रतिपादन (=स्थापन रखने) योग्य है, उसे इस प्रकार (=स्विष्टकृत् वा इडा के अवदान के रूप में) प्रतिपादन करना चाहिये। इसलिये ध्रुवा में उपांशुयाज का, और स्विष्टकृत् हवि का कोई शेष प्रतिपादन योग्य नहीं है। जिस प्रकार एक उखा (=बटलोई) में बहुत अतिथियों के लिये पकाया हुआ ओदन एक अतिथि के भोजन कर लेने पर उस का बचा हुआ ओदन 'भृत्यों को देने योग्य उखा में है', ऐसा नहीं जाना जाता है। क्योंकि वह [उखा में विद्यमान ओदन] प्रयोजनवाला है [अन्य अतिथियों को भोजन कराने के लिये है]। इसी प्रकार उपांशुयाज के आज्य के विषय में भी जानना चाहिये।

विवरण—अन्येभ्यश्च प्रयोजनेभ्यः—उपस्तरण और अभिघारण आदि प्रयोजनों के लिये। **आज्यं प्रयोजयति**—आज्य की अपेक्षा रखने से आज्य को प्रयोजित करता है, अर्थात् मेरे लिये आज्य होना चाहिये। **अन्यानि प्रयोजनानि**—अग्नीषोमीय पुरोडाश का उपस्तरण अभिघारण कार्य करना चाहिये। **न तु तत् प्रतिपाद्यम्**—अन्य कार्य में उपयुक्त द्रव्य का जो शेष रहता है, उसको अन्यत्र उचित

---

१. तै० ब्रा० ३।३।५।५॥

आह, जुह्वां तर्हि आज्यस्य शेषो भविष्यति, चमसवत्। यथा चमसेषु ग्रहेषु च सोमस्य चोदनयेति। तत्र प्रत्याह—

अवत्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥७॥ (उ०)

स्थान में रखना 'प्रतिपत्तिकर्म' कहाता है। यथा जुहू आदि के धारण के लिये नीचे बिछाई गई कुशा को कर्म के अन्त में अग्नि में छोड़ दिया जाता है, प्रधानयाग में उपयुक्त पुरोडाश के शेष का स्विष्टकृत् आहुति के रूप में अग्नि में छोड़ दिया जाता है। सोमयाग में उपयुक्त ग्रहादि पात्रों को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। यही बात **यद्धि कृतप्रयोजनम्** वाक्य से कही है। **यत् प्रतिपादयितव्यं तदेवं प्रतिपाद्यम्**—कार्य में उपयुक्त अवशिष्ट वस्तु को कहीं भी रखा वा फेंका जा सकता है, परन्तु उसके विषय में भी नियम किया है कि अमुक उपयुक्त वस्तु का इस प्रकार प्रतिपादन करना चाहिये (तीन दृष्टान्त ऊपर दिये हैं)। **उखायाम्**—उखापात्र मिट्टी वा पीतल तांबा आदि धातु का होता है। इस का ऊर्ध्वमुख भाग घड़े के समान छोटा होता है। इस प्रकार के दाल वा भात पकाने के पात्र को राजस्थान में 'बटलोई' कहा जाता है। आजकल ऐसा पात्र प्रायः प्रयोग में नहीं आता है। इस के स्थान में चौड़े मुंह का पतीला उपयोग में लाया जाता है ॥६॥

अच्छा, तो जुहू में [उपांशुयाज के लिये] गृहीत चतुरवत्त (=चार बार स्रुव से परिगृहीत) आज्य का शेष होगा, चमस के समान। जैसे चमसों और ग्रहों में विधानसामर्थ्य से सोम का शेष होता है। इस विषय में कहते हैं—

विवरण यहां भाष्य कुछ अव्यवस्थितसा है। उक्त पङ्क्ति में कहा विषय ही अगले सूत्र ७-८ के भाष्य में पुनः श्रुत है। **चमसवत्**—सोमयाग में चौकोर काष्ठ के बने चमस नाम के पात्र होते हैं। उन में सोम भरकर आहुतियां दी जाती हैं। शेष बचाये गये सोम का ऋत्विक् उसी पात्र से पान करते हैं। **चम्यते भक्ष्यते सोमोऽनेनेति चमसः**=जिस से सोम पिया जाये (द्र०—उणादिकोश ३।११७)। **चोदनया—असर्वंहुतं जुहोति** (कु० वृ० ३।५।८ में उद्धृत) विधिवाक्य से चमसस्थ कृत्स्न सोम का होम नहीं होता है, कुछ सोम बचा लिया जाता है।

अवत्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(जुह्वाम्) जुहू में (च) भी (अवत्तत्वात्) आज्य के अवत्त होने से (च) और (तस्य) उस अवत्त आज्य का (होमसंयोगात्) होम के साथ संयोग होने से शेष नहीं होता है।

विशेष—यह भाष्य और सुबोधिनी वृत्ति के अनुसार सूत्रार्थ है। कुतुहलवृत्तिकार ने सूत्र के पूर्वार्ध को पूर्वपक्षपरक, और उत्तरार्ध को सिद्धान्तपरक लगाया है। उसे उसी ग्रन्थ में देखें। तन्त्रवार्तिक ३।५।८ में 'अवत्तत्वात्तु' सूत्रपाठ उद्धृत किया है। **अवत्तत्वात्—चतुर्जुह्वां गृह्णाति** (तै० ब्रा० ३।५।३) वचन से चार स्रुव घृत जुह्वा में ग्रहण किया जाता है। यही 'चतुरवदान' कहाता है। **तस्य च होमसंयोगात्**—पूर्व चतुरवत्त आज्य का **चतुरवत्तं जुहोति**(कु० वृ० ३।५।८ में

ध्रुवायां तावद् नास्ति शेषः उपांशुयाजस्य, साधारणत्वादित्युक्तम् । अथ कस्मान्न जुह्वां यच्छिष्टं तेन शेषकार्य्यम्, यथा होमार्थे चमसे शेष इति ? उच्यते—यज्जुह्वामवत्तं तत् सर्वं होमेन सम्बद्धम्[1], तस्माद् न जुह्वां शेषः ॥७॥

चमसवदिति चेत् ॥८॥ (पू०)

इति पुनर्यदुक्तं, तत्परिहर्त्तव्यम् ॥८॥

न चोदनाविरोधाद्धविःप्रकल्पनत्वाच्च ॥९॥ (उ०)

नैतदेवम् । कुतः ? चोदनाविरोधात् । सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति[2], इति तत्र

उद्धृत); अथवा चतुरवत्तं स वषट्कारेषु (कात्या० श्रौत ३।३।११) वचन से सम्पूर्ण चतुरवत्त आज्य का होम के साथ संयोग होता है।

व्याख्या—ध्रुवा में तो उपांशुयाज का शेष नहीं है, साधारण होने से, यह [पूर्वसूत्र से] कह चुके। अच्छा तो जूहू में जो बचा हुआ आज्य है, उस से शेषकार्य क्यों नहीं होता है, जैसे होम के लिये चमस में शेष होता है ? इस विषय में कहते हैं—जो आज्य जूहू में अवदान किया हुआ है, वह सब [चतुरवत्तं जुहोति वचन से] होम से सम्बद्ध है। इसलिये जूहू में आज्य शेष नहीं है ॥७॥

चमसवदिति चेत् ॥८॥

सूत्रार्थः—(चमसवत्) जैसे होमार्थ चमस में गृहीत सोम से शेषकार्य होते हैं, वैसे ही जुहूस्थ उपांशुयाज के आज्य से होवे, तो।

व्याख्या—[चमसवत्] यह जो कहा है, उसका परिहार करना चाहिये ॥८॥

न चोदनाविरोधाद्धविःप्रकल्पनत्वाच्च ॥९॥

सूत्रार्थः—चमसों के समान (न) नहीं है। चमसों में (चोदनाविराधात्) विधि का विरोध न होने से, (च) और (हविःप्रकल्पनत्वात्) [ऐन्द्रवायवं गृह्णाति आदि वचनों के] हवि के प्रकल्पक होने से।

व्याख्या—ऐसा नहीं है। किस हेतु से ? चोदना का विरोध न होने से। 'सोमस्याग्ने वीहि इत्यनुवषट् करोति' (='सोमस्याग्ने वीहि' मन्त्र से अनुवषट् करता है), ऐसी वहां चोदना

---

१. 'चतुरवत्तं जुहोति' अथवा 'चतुर्गृहीतं जुहोति' इति वचनादिति शेषः।

२. ऐ० ब्रा० ३।५॥

चोदना। अपि च, तत्र—ऐन्द्रवायवं गृह्णाति[1], इत्येवमादीनि ग्रहणानि, न होमसंयुक्तानि, हविःप्रकल्पनान्येव। इह पुनर्होमसंयोगः—चतुर्गृहीतं जुहोति[2] इति ॥९॥

उत्पन्नाधिकारात् सति सर्ववचनम् ॥१०॥ (उ०)

है। और भी, वहां ऐन्द्रवायवं गृह्णाति (=इन्द्रवायु देवतावाले ग्रह का ग्रहण करता है, अर्थात् ऐन्द्रवायव ग्रह में सोमरस को ग्रहण करता है), इत्यादि विधियां सोम के ग्रहणविषयक हैं, होम से संयुत नहीं हैं, हवि की प्रकल्पकमात्र (=साधकमात्र) हैं। और यहां (=उपांशुयाज के आज्य के विषय में) चतुरवत्तं जुहोति वचन उपांशुयाजार्थ गृहीत चतुरवत्त आज्य का होम के साथ सम्बन्ध दर्शाता है।

विवरण—चोदनाविरोधात् इस चोदना का वचन भाष्यकार ने अनुपवषट्कृते जुहोति दिया है। इसका भाव यह है कि चमसों से वषट्कार से होम करने के पश्चात् अनुवषट्कार से भी होम का विधान यह दर्शाता है कि वषट्कार होम में चमसस्थ कृत्स्न सोम का होम नहीं होता है। शेष रखा जाता है। इसके साथ ही कुतुहलवृत्ति ३।५।८ में उद्धृत हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षयन्ति (=चमसाध्वर्यु होम करके वापस लौट कर सद:स्थान में सोम का भक्षण करते हैं) वचन से चमसों के भक्षण का विधान होने से भी चमसों से वषट्कार और अनुवषट्कार से सशेष होम जाना जाता है। कुतुहल वृत्तिकार ने चमसों में गृहीत सोम के कृत्स्न होम होने पर असर्वहुतं जुहोति (=सशेष होम करता है) श्रुति का विरोध दर्शाकर चमसों में हुतशेष सोम की विद्यमानता दर्शाई है। ऐन्द्रवायवं गृह्णाति ···न होमसंयुक्तानि—इसका तात्पर्य यह है कि ऐन्द्रवायवं गृह्णाति आदि वचनों से ग्रहों में सोम का ग्रहणमात्र होता है, उनका हविष्ट्वकल्पनमात्र होता है, होम के साथ संयोग नहीं होता है। इसी प्रकार चमसेषून्नयति[3] (कुतु० वृत्ति ३।५।८ में उद्धृत) वचन से चमसों में सोम का उन्नयन=ग्रहणमात्र विहित है, होम का संयोग विहित है, होम का संयोग विहित नहीं है ॥९॥

उत्पन्नाधिकारात् सति सर्ववचनम् ॥१०॥

सूत्रार्थः—[तद्यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति वचन में] (उत्पन्नाधिकारात्) उत्पन्न=विद्यमान के प्रति अधिकार (सति) होने से (सर्ववचनम्) सर्ववचन है, अर्थात् जिन-जिन हवियों का होम के अनन्तर शेष बचता है, उनकी दृष्टि से 'सर्व' शब्द का ग्रहण किया है।

---

१. आप० श्रौत १२।१४।८॥

२. द्र०—यच्चतुर्गृहीतं जुहोति। तै० सं० ५।१।१॥ यद्यप्येतद् वाक्यं तै० संहितायामुख्यस्याग्निप्रकरणे पठितम्, तथापि तस्य सर्वयागसाधारणता तत्रैवोच्यते।

३. द्र०—तस्मै चमसाध्वर्यवः स्वं स्वं चमसं द्रोणकलशादभ्युन्नीय हरन्ति। आप० श्रौ० १२।२३।१५॥

अथ यदुक्तम्—तत् यत्सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' इति । उच्यते—उत्पन्नं शेषमधिकृत्य एतदुच्यते, न अविशेषणम् । तस्माद् ये इह शेषाः, तेभ्यः सर्वेभ्य इति । यथा सर्व ओदनो भुक्तः, सर्वे ब्राह्मणा भुक्तवन्त इति प्रकृतापेक्षः सर्वशब्दः । एवमत्रापीति ॥१०॥

जातिविशेषात् परम् ॥११॥ (उ०)

अथ यदुक्तम्—प्रायणीये केवले चरौ समवत्तशब्दो नावकल्पते, यदि न तत्र चोदकेन आज्यादपि स्विष्टकृदवदानमिति । उच्यते—असत्यप्याज्याच्छेषकार्ये समवत्तशब्दो जातिविशेषापेक्ष उपपद्यते । ओदनजातिमाज्यजातिं चापेक्ष्य । अनुवादो हि सः । यथासंभवं चानुवादः कल्प्येत ॥११॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—तद्यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति (=सब हवियों से स्विष्टकृत् के लिये अवदान करता है)। इस विषय में कहते हैं—जो शेष उत्पन्न है [अर्थात् जिस-जिस हवि का शेष विद्यमान है], उसको अधिकृत करके यह वचन कहा है, सामान्य हविमात्र की दृष्टि से नहीं कहा है। इस लिये जो यहां हवि शेष हैं, उन सब से [अवदान करे, ऐसा अर्थ जाना जाता है]। जैसे 'सारा चावल खा गया', 'सब ब्राह्मणों ने भोजन कर लिया' यहां प्रकृत [ओदन वा ब्राह्मणों] की अपेक्षा से सर्व शब्द का प्रयोग जाना जाता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ॥ १० ॥

जातिविशेषात् परम् ॥११॥

सूत्रार्थः—(परम्) अगला समवत्तशब्द (जातिविशेषात्) ओदनजाति और आज्यजाति विशेष की अपेक्षा करके प्रयुक्त हुआ है।

विशेष—जातिविशेषात्—यहां ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या (महा० २।३।२८) वार्तिक से ल्यबन्त 'प्रेक्ष्य' शब्द के लोप में पञ्चमी है। अर्थ होता है—जातिविशेषं प्रेक्ष्य। एक अदितिदेवताक चरु में 'समवद्यति' का प्रयोग नहीं हो सकता है, इसके समाधान में कहा है—उपस्तरण अभिघारणरूप आज्य से संसृष्ट (=युक्त) जो चरु (=विशद सिद्ध=खिला हुआ ओदन) है, तद्गत आज्यजाति, और ओदनजाति की अपेक्षा से 'समवद्यति' क्रिया का प्रयोग है।

व्याख्या—और जो यह कहा है—केवल (=अकेले) प्रायणीय चरु में 'समवत्त' शब्द उपपन्न नहीं होता है, यदि वहां चोदक (=अतिदेश) वचन से आज्य से भी स्विष्टकृत् का अवदान न होवे। इस विषय में कहते है—[उपांशुयाज के] आज्य से शेषकार्य न होने पर भी 'समवत्त' शब्द जातिविशेष की अपेक्षा से उपपन्न होता है। ओदनजाति और आज्यजाति की अपेक्षा करके (द्र०—सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' टिप्पणी)। वह अनुवादमात्र है। अनुवाद यथासम्भव कल्पित (=समर्थित) किया जाता है ॥ ११ ॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

अन्त्यमरेकार्थे ॥१२॥ (उ०)

अथ यदुक्तम्-स्विष्टकृदर्थं ध्रुवायामभिघारणं दर्शयतीति। न तत् स्विष्टकृदर्थम्। शेषाभावादित्युक्तम्। तस्मादयं तस्यार्थः—न हि ततः परामाहुतिं यक्ष्यन् भवतीति, न रेक्ष्यते। ध्रुवातो यद्याहुतिरपरा होतव्या भवेत्, न च प्रत्यभिघार्येत, ध्रुवा ततः किल रिच्येत। न रेक्ष्यते, अपरस्या आहुतेरभावात्। किं प्रत्यभिघारणेनेति? ॥१२॥ **इति ध्रुवाज्यादिभिः स्विष्टकृदादिशेषाननुष्ठानाऽधिकरणम् ॥ १ ॥**

—:o:—

[साकंप्रस्थायीये शेषकर्माननुष्ठानाऽधिकरणम्] ॥२॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते-'**साकंप्रस्थायीयेन यजेत**'[1] इति। तत्र सन्देहः—किं स्विष्ट-

---

अन्त्यमरेकार्थे ॥ १२ ॥

सूत्रार्थः—(अन्त्यम्) अन्तिम '**स्विष्टकृतेऽवदाय**' से स्विष्टकृत् के लिये आज्य से अवदान दर्शाया है, उसका तात्पर्य (अरेकार्थे) रेक=रिक्त होना, उस के अभाव में अर्थात् रिक्त न होने में जानना चाहिये। (विशेष—भाष्य-व्याख्या में देखें)।

व्याख्या—**और जो यह कहा है—स्विष्टकृत् के लिये ध्रुवा में अभिघारण दर्शाता है। वह स्विष्टकृत् के लिये नहीं है। [उपांशुयाज के आज्य के] शेष न होने से, यह कह चुके। इस लिये उस वचन का यह अर्थ है**—न हि ततः परामाहुतिं यक्ष्यन् भवति (**=उस से परे आहुति यजन के लिये नहीं होती है), इस कारण [ध्रुवा] रिक्त नहीं होगी। यदि ध्रुवा से अन्य आहुति देने योग्य होवे, और [ध्रुवा का] प्रत्यभिघारण न किया जाये, तो उससे ध्रुवा निश्चय ही रिक्त होजावे। ध्रुवा रिक्त नहीं होगी, अगली आहुति न होने से। तो फिर प्रत्यभिधारण से क्या प्रयोजन ?**

विवरण—तस्मादयं तस्यार्थः—इस के अनन्तर भाष्यकार ने जो पूर्वनिर्दिष्ट वाक्य की व्याख्या की है, उसका भाव यह है—स्विष्टकृत् के लिये अवत्त हवि के उपस्तरण और अभिघारण पर्यन्त ध्रुवास्थ आज्य का कार्य है। यदि ध्रुवा का प्रत्यभिघारण न किया जावे, तो ध्रुवा आज्य से रहित हो जावे, उत्तरकार्य सम्पन्न न होवें। इसलिये प्रति अवदान के पश्चात् ध्रुवा का अभिघारण किया जाता है। स्विष्टकृत् के अवदान के उत्तर ध्रौव आज्य का कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये ध्रुवा का प्रत्यभिघारण=प्रपूरण नहीं होता है। इतना ही अर्थवाद वाक्य का तात्पर्य है ॥१२॥

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—साकंप्रस्थायीयेन यजेत (**=साकंप्रस्थायीय याग से यजन करे**)। **उस में सन्देह है—क्या स्विष्टकृत् और इडा का अवदान है, वा नहीं है ?**

---

१. तै० सं० २।५।४।३ ॥

कृदिडमस्ति, नास्ति इति ? अस्तीति ब्रूमः। कुतः ? दर्शपूर्णमासविकारो हि साकंप्रस्थायीयमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

साकंप्रस्थायीये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत् ॥१३॥ (सि०)

नास्तीति। कुतः ? अशेषत्वात्। सर्वादानाच्च अशेषता। कथम् ? एवं तत्र श्रूयते—**आज्यभागाभ्यां प्रचर्य आग्नेयेन च**[1] **पुरोडाशेनाग्नीधे स्रुचौ प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामन्नाह**[2] इति। तस्मान्न ततः शेषकार्यम्[3] इति ॥१३॥ इति **साकम्प्रस्थायीये शेषकर्माननुष्ठानाऽधिकरणम्** ॥ २ ॥

—:०:—

[स्विष्टकृत् और इडा का अवदान] है, ऐसा हम कहते हैं। किस हेतु से ? साकंप्रस्थायीय याग दर्शपूर्णमास का विकार है [दर्शपूर्णमास में स्विष्टकृत् और इडा का अवदान होता है, अतः उसकी विकृति साकंप्रस्थायीय में भी दोनों के लिये अवदान होगा]। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

साकंप्रस्थायीये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थः—(साकंप्रस्थायीये) साकंप्रस्थायीय याग में (स्विष्टकृदिडम्) स्विष्टकृत् और इडा का अवदान (च) भी (तद्वत्) ध्रुवाज्य से स्विष्टकृत् और इडा के अवदान के समान अनुष्ठान नहीं होता है।

विशेष—स्विष्टकृदिडं च—स्विष्टकृच्च इडा च=स्विष्टकृदिडम्, समाहारद्वन्द्व होने से नपुंसकलिङ्गता जाननी चाहिये (द्र०—पूर्व पृष्ठ ६४७)।

व्याख्या—[साकंप्रस्थायीय याग में स्विष्टकृत् और इडा का अवदान] नहीं है। किस कारण से ? शेष न होने से। [होम के प्रति चतुरवत्त] कृत्स्न आज्य का होम होने से शेष नहीं है। कैसे ? वहां इस प्रकार सुना जाता है—आज्यभागाभ्यां प्रचर्य आग्नेयेन च पुरोडाशेनाग्नीधे स्रुचौ प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामन्नाह (=आज्यभाग और आग्नेय पुरोडाश से यजन करके अग्नीत् को दोनों स्रुक् देकर [दुग्ध दही की] कुम्भियों के साथ दक्षिण से प्रतिक्रमण करते हुए कहता है [—[4]इन्द्र के लिये पुरोऽनुवाक्या बोलो, आश्रावण करो, इन्द्र के लिये यजन करो, ऐसा संप्रेष देवे। कुम्भीस्थ सम्पूर्ण दोह=पयः दधि सर्वहुत हो जाता है]। इसलिये उससे शेष-

१. भाष्यपुस्तके मूलोद्धरणे च क्वचित् 'च' पदं नोपलभ्यते। परन्त्विह आवश्यकम्, आपस्तम्बसूत्रे बहुषु हस्तलेखेषु 'च' पदं दृश्यते।

२. आप० श्रौत ३।१६।१७॥

३. आपस्तम्बसूत्रकारस्तु स्पष्टमाह—स्विष्टकृत्भक्षाश्च न विद्यन्ते ॥३।१७।२॥

४. यह कोष्ठगत पाठ भाष्योद्धृत सूत्र के शेषभाग का अनुवादरूप है।

[सौत्रामण्यां शेषकर्माननुष्ठानाऽधिकरणम् ॥ ३॥]

अस्ति सौत्रामणी । तत्र ग्रहाः श्रूयन्ते—आश्विनसारस्वतैन्द्राः । तत्र चोदकेन स्विष्टकृदिडं प्राप्तम् । अथ इदानीं सन्देहः—किं निवर्त्तते, उत नेति ? किं प्राप्तम् ? चोदकानुग्रहाय कर्त्तव्यमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु ॥ १४ ॥ (उ०)

सौत्रामण्यां च ग्रहेषु न कर्त्तव्यमिति 'च' शब्देनातिदिश्यते । कुतः ? **अशेषत्वात्** । सर्वादानादशेषता । तत्रापि हि ग्रहैरेवं होतु प्रतिष्ठन्ते—**यत् पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते**[1]

कार्य नहीं होता है । [आपस्तम्बसूत्रकार ने यह बात स्पष्ट ही कही है—स्विष्टकृद्भक्षाश्च न विद्यन्ते (३।१७।२)] ॥ १३ ॥

—:०:—

व्याख्या—**सौत्रामणी याग है । वहां ग्रह श्रुत हैं—आश्विन सारस्वत तथा ऐन्द्र । वहां (=उन ग्रहों में) चोदक (=अतिदेश) से स्विष्टकृत् और इडा की प्राप्ति होती है । तदनन्तर सन्देह होता है—[स्विष्टकृत् और इडा का अवदानकार्य] क्या निवृत्त होता है अथवा निवृत्त नहीं होता है ? क्या प्राप्त होता है ? चोदकवचन के अनुग्रह के लिये [स्विष्टत् और इडा का अवदान] करना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—**आश्विनसारस्वतैन्द्राः**—यहां **अल्पाच्तरम्** (अष्टा० २।२।३४) के नियम से 'ऐन्द्र' का पूर्व प्रयोग होना चाहिये । परन्तु यहां तीनों ग्रहों का क्रम विवक्षित होने से यथाक्रम (द्र०—कात्या० श्रौत १९।२।१८,१९,२१) ग्रहों का निर्देश किया है । **आश्विन**—अश्विनौ देवता-वाला, **सारस्वत**—सरस्वती देवतावाला, **ऐन्द्र**—इन्द्र देवतावाला । **साऽस्य देवता** (अष्टा० ४।२।२३) से अण् प्रत्यय । **चोदकानुग्रहाय**—पयोग्रहों के सान्नाय्य का विकार होने से, और सुराग्रहों में पिष्ट प्रकृतिवाले पुरोडाश विकार के सम्भव होने से **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** इस चोदकवचन के अनुग्रह के लिये स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिये ।

सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु ॥ १४ ॥

सूत्रार्थः—(सौत्रामण्याम्) सौत्रामणि याग में जो (ग्रहेषु) ग्रह, उन में (च) भी स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं करना चाहिये ।

व्याख्या—**सौत्रामणि में भी ग्रहों में 'नहीं करना चाहिये' यह 'च' शब्द से अतिदिष्ट होता है । किस हेतु से ? अशेष (=शेष न) होने से । सब के लिये ग्रहण होने से अशेषता है । वहां भी ग्रहों से होम के लिये इस प्रकार जाते हैं—यत् पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते**

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

इति । ग्रहस्थं खल्वपि तद् द्रव्यम्—ग्रभिगृहीतमभ्यनूक्त'मभ्याश्रावितं देवतां प्रति । यथा—गृहीतान् ग्रहानृत्विज आददते—ग्राश्विनमध्वर्युः, सारस्वतं ब्रह्मा, ऐन्द्रं प्रतिप्रस्थाता'इति । होमार्थमशेषादानं भवति । होमसंयोगश्चैषां श्रूयते—उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहाञ्जुह्वति, दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहाञ्जुह्वति' इति ॥ १४ ॥

(=जो दूध के और सुरा के ग्रह ग्रहण किये जाते हैं)। ग्रह में स्थित जो द्रव्य है—वह देवता के प्रति अभिगृहीत अभ्युक्त अभ्याश्रावित है। जैसे गृहीत ग्रहों को ऋत्विक् ग्रहण करते हैं—आश्विन को अध्वर्यु, सारस्वत को ब्रह्मा, ऐन्द्र को प्रतिप्रस्थाता। होम के लिये अशेष ग्रह का ग्रहण होता है। होम का संयोग भी इनका सुना जाता है—उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् जुह्वति (=उत्तर अग्नि में पयोग्रहों का होम करते हैं), दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहान् जुह्वति (=दक्षिण अग्नि में सुराग्रहों का होम करते हैं) ॥१४॥

विवरण—पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च—सौत्रामणि याग में सुरा से होम का विधान, तथा शेषरूप से ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण का निर्देश मिलता है। यहां सुरा शब्द लोकप्रसिद्ध मद्य के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। सौत्रामणि याग में सुरा बनाने की जो विधि श्रौतसूत्रों में लिखी है, उसके अनुसार व्रीहि और श्यामाक का अधिक जल में चावल पकाकर उसके आचाम=मांड में शष्पादि के चूर्ण के साथ पके चावलों को डालकर ३ दिन गड्ढे में गाड़कर रखा जाता है (द्र०—कात्या० श्रौत १९।२।२०,२१)। इससे इसमें खटास तो उत्पन्न हो जाता है, परन्तु मादकता उत्पन्न नहीं होती है। आसव वा अरिष्ट बनाने के लिये उन के द्रव्य को ४० दिन तक भूमि में गाड़ते हैं, तब भी उनमें ५ से १० प्रतिशत ही मादकता आती है। मद्य बनाने के लिये उसका सार भपके (=वाष्पयन्त्र) से खींचा जाता है। प्रकृत सुरा में यह कार्य भी नहीं होता है। अतः सौत्रामणिस्थ सुरा को मद्य समझना भूल है। इस सुरा की तुलना गाजर या बड़े की बनाई 'कांजी' द्रव्य से की जा सकती है। जिसमें खटाईमात्र होती है। महाभाष्य के पस्पशाह्निक (१।१।१) में एक श्लोक है—

> यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।
> पीतं न गमयेत् स्वर्गं तत् किं क्रतुगतं नयेत् ॥

अर्थात्—जो गूलर के फल के रङ्ग के ताम्र के छोटे कलशों के बड़े समुदाय को पीया हुआ भी स्वर्ग को प्राप्त नहीं कराता है, तो यज्ञगत थोड़ा सा पिया हुआ क्या स्वर्ग प्राप्त करायेगा?

यह श्लोक सौत्रामणियज्ञगत सुरापान की निन्दा करता है, ऐसा महाभाष्य के व्याख्याकारों का मत है। हमारे विचार में यह मत अयुक्त है। इसमें न सुरा का निर्देश है, और नाही सौत्रामणियाग का। सौत्रामणियाग में सुरा को ताम्रपात्र में रखने का विधान ही नहीं है। तीन सुराग्रहों में से केवल एक सारस्वत ग्रह उदुम्बर (=गूलर) वृक्ष का होता है। अतः यह श्लोक यज्ञगत ताम्रपात्र में रखे गये आचमनीय जल से आचमन की निरर्थकता को कहता है। इसका अर्थ है—उदुम्बरवर्ण के ताम्रपात्रों के महत् मण्डल में रखा गया जल पीया हुआ स्वर्ग

१. मुद्रितभाष्यपुस्तकेषु 'अभिगृहीतमभ्युक्तमभ्याश्रावितम्' इति पाठ उपलभ्यते। स चापपाठः।
२. अनुपलब्धमूलम्।

तद्वच्च शेषवचनम् ॥ १५ ॥ (उ०)

एतमेव न्यायं शेषवचनमुपोद्वलयति - **उच्छिनष्टि, न सर्वं जुहोति**[1] इति, **सर्वहोमे प्राप्ते प्रतिषेधोऽवकल्पते**। वाचनिकत्वाच्च स्विष्टकृदिडं न भवति । **तस्यान्यत्रोपयोग-वचनाद्—ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम्**[2] इति। अपरस्यापि शेषस्य वाचनिको **विनि-योग:—शतातृण्णायां विक्षारयन्ति** इति ॥१५॥ **इति सौत्रामण्यां शेषकर्माननुष्ठानाऽधिकरणम् ॥३॥**

—:o:—

को प्राप्त नहीं कराता, तो यज्ञगत थोड़ासा ताम्रपात्र में रखा गया आचमनीय जल क्या स्वर्ग को प्राप्त करायेगा ? यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि आज से ४०-५० वर्ष पूर्व भारतीय घरों में पीने का पानी या तो मट्टी के घड़ों में रखा जाता था, या ताम्बे के बर्तनों में। पीतल के बर्तनों में पीने का जल रखने का रिवाज आधुनिक है। ताम्रमात्र में रखा गया जल अनेक गुणान्तरों से युक्त हो जाता है।

अभिगृहीत— ग्रहपात्रों में गृहीत हवि द्रव्य। **अभ्यनूक्त**—देवता के लिये कहा हुआ। अभ्याश्रावित=देवता के लिये सुनाया हुआ, अर्थात् ग्रहस्थ द्रव्य के यजन के लिये मन्त्रपाठ किया गया। **उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान्**—उत्तरवेदि की आहवनीय में, **दक्षिणेऽग्नौ**—दक्षिणाग्नि में सुराग्रह का होम होता है। आपस्तम्ब श्रौत १९।८।८ में कहा है—**सर्वं आहवनीये ह्वयेरन्नित्या-श्मरथ्यः, दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहा इत्यालेखनः** अर्थात् सभी पयोग्रह और सुराग्रह आहवनीय में होम किये जायें, यह आश्मरथ्य आचार्य का मत है, सुराग्रहों का दक्षिण अग्नि में होम किया जाये, यह आलेखन नाम के आचार्य का कथन है ॥१४॥

तद्वच्च शेषवचनम् ॥ १५ ॥

सूत्रार्थः—(शेषवचनम्) 'न सर्वं जुहोति' वचन से निषेधपूर्वक शेष का कथन (च) भी (तद्वत्) स्विष्टकृत् इडा के अवदान के अभाव का बोधन कराता है।

व्याख्या —**इसी न्याय को शेषवचन भी प्रमाणित करता है**—उच्छिनष्टि, न सर्वं जुहोति (=**शेष रखता है, कृत्स्न द्रव्य का होम नहीं करता**)। **सर्वहोम प्राप्त होने पर ही** [न सर्वं जुहोति] **प्रतिषेध उपपन्न होता है।** [**शेष के**] **वाचनिक होने से** [**उससे**] **स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं होता है। उस (=वाचनिक शेष रखे गये द्रव्य) के अन्यत्र उपयोग का कथन होने से**—ब्राह्मणं परिक्रीणीयाद् उच्छेषणस्य पातारम् (=**ब्राह्मण को खरीदे**

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. तै० ब्रा० १।८।६।२॥ आप० श्रौत १८।३।३॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शतातृण्णायां समवनयति। तै० ब्रा० १।८।६।४॥ आप० श्रौत १९।३।६,७॥

[सर्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदिडादीनां सकृदनुष्ठानाऽधिकरणम् ॥ ४ ॥]

अस्ति सर्वपृष्ठेष्टिः[1] – इन्द्राय राथन्तराय [निर्वपति], इन्द्राय बार्हताय, इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाक्वराय, [इन्द्राय रैवताय[2]] इति। तत्र पुरोडाशो बहूनां कर्म्मणां साधारणः[3]। तत्र सन्देहः—किं प्रतिकर्म स्विष्टकृदिडं कर्त्तव्यं, सकृदेव वेति? किं प्राप्तम्?

उच्छेष के पीनेवाले को)। अपर शेष का भी वचनविहित विनियोग है– शतातृण्णायां विक्षारयन्ति (= शतछिद्रयुक्त पात्र में क्षरित करते हैं)।।१५।।

विवरण – वाचनिकत्वात्—'उच्छिनष्टि' वचन से विहित होने से इस शेष से स्विष्टकृद् इडावदान नहीं होता है। क्योंकि उस वाचनिक शेष का अन्य उपयोग कहा है। **ब्राह्मणं वा परिक्रीणीयात्** सुराग्रह का भी वेदि के दक्षिण में बैठे हुए प्राचीनावीती अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता आग्नीध आदि भक्षण करते हैं (कात्या० श्रौत १९।३।१७)। कुछ आचार्यों का मत है कि सुराग्रह का आघ्राणमात्र ही भक्षण होता है—**प्राणभक्षमेके**—(कात्या० श्रौत १९।३।१८)। **ऋत्विक्** स्वयं सुराग्रह का भक्षण न करें, तो उसके भक्षण के लिये किसी ब्राह्मण को खरीद लेवें (आप० श्रौत १९।३।२)। कात्यायन श्रौतसूत्र में ब्राह्मण के स्थान में परिक्रीत वैश्य और राजन्य में से अन्यतर का निर्देश है —**परिक्रीतो वा वैश्यराजन्ययोरन्यतरः**। **अपरस्यापि शेषस्य**— परिक्रीत ब्राह्मण वा वैश्य वा राजन्य के सुराभक्षण से बची सुरा का। **शतातृण्णायां विक्षारयन्ति** — शत = अनेक आतृण्ण = सब ओर किये गये छिद्र हैं जिस में, उस उखा = स्थालीपात्र में गिराते हैं। इसका विधान आप० श्रौत (१९।३।६७) में इस प्रकार किया है—दक्षिणाग्नि पर बन्धी हुई शतातृण्णा स्थाली धारण करता है। उसके मुख पर उत्तर की ओर के दशा पवित्र को फैलाकर इस पर शतमान (= परिमाणविशेष) हिरण्य को रखकर 'सोम प्रतीका' मन्त्र से सुरा शेष छोड़ता है। सुरा की धारा दक्षिणाग्नि में गिरती है ॥ १५ ॥

—:०:–

व्याख्या—**सर्वपृष्ठा नाम को इष्टि है**—इन्द्राय राथन्तराय [निर्वपति], इन्द्राय बार्हताय, इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाक्वराय, [इन्द्राय रैवताय] (= **राथन्तर विशेषणविशिष्ट इन्द्र के लिये, बार्हत विशेषणविशिष्ट इन्द्र के लिये, वैरूप विशेषणविशिष्ट इन्द्र के लिये, वैराज विशेषणविशिष्ट इन्द्र के लिये, शाक्वर विशेषणविशिष्ट इन्द्र के लिये, [रैवत विशेषण विशिष्ट इन्द्र के लिये निर्वाप करता है]**)। वहां (= **सर्वपृष्ठा इष्टि में) बहुत कर्मों (= छः यागों) का पुरोडाश साधारण (= एक) है। उसमें सन्देह है— क्या प्रतिकर्म स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिये अथवा सकृत् (= एक बार) ही करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है?**

---

१. य इन्द्रियकामो वीर्यकामो वा स्यात् तमेतया सर्वपृष्ठया याजयेत्। तै० सं० २।३।७॥
२. तत्रैते षड् यागा विहिताः। द्र०–तै० सं० २।३।७॥
३. उत्तानेषु कपालेष्वधिश्रयति। द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति। समन्तं पर्यवद्यति

विवरण—**अस्ति सर्वपृष्ठेष्टिः**—इस इष्टि का विधायक वाक्य है—**य इन्द्रियकामो वीर्यकामः स्यात्, तमेतया सर्वपृष्ठया याजयेत्** (तै० सं० २।३।७।१-२)=अर्थात् जो इन्द्रिय की कामनावाला, वीर्य की कामनावाला होवे, उसको इस सर्वपृष्ठा इष्टि से यजन कराये। **इन्द्राय राथन्तराय**—रथन्तर बृहत् वैरूप वैराज शाक्वर और रैवत ये छः पृष्ठ स्तोत्र हैं। **राथन्तराय बार्हताय** इन दोनों में रथन्तर और बृहत् शब्दों से 'इस पृष्ठ साम का सम्बन्धी' इस अर्थ में रथन्तर और बृहत् शब्द के उत्सादिगण (अष्टा० गण ४।१।८६) में पाठ होने से **तस्येदम्**—(अष्टा० ४।३।१२०) से अञ् प्रत्यय होता है। वैरूप वैराज शाक्वर रैवत इन पृष्ठ नामों से **तस्येदम्** अर्थ में अण् होता है। यह भट्टभास्कर का मत है। सायणाचार्य ने **रथन्तरं साम वेत्ति** अर्थ करके रथन्तर बृहत् के उत्सादिगण में पाठ पाठ होने से **तदधीते तद्वेद** (अष्टा० ४।२।५८) से अञ् प्रत्यय होता है, ऐसा माना है। वैरूप वैराज शाक्वर रैवत शब्दों से भी पूर्ववत् तद्वेद अर्थ में अण् होगा। भट्टभास्कर के व्याख्यान में वैरूप वैराज शाक्वर रैवत शब्दों के वृद्धसंज्ञक होने से **तस्येदम्** अर्थ में वृद्धाच्छः (अष्टा० ४।२।११३) के नियम से 'छ' (=ईय) प्रत्यय प्राप्त होता है। उस के स्थान में छान्दसत्वादण् का विधान करना होगा। सायणाचार्य के व्याख्यान में 'तद्वेद' अर्थ में 'वृद्धाच्छः' नियम की प्रवृत्ति नहीं होती है, अशैषिक होने से। अतः वैरूप आदि से 'तद्वेद' अर्थ में अण् सुलभ है। रथन्तरादि सामों को जाननेवाला इन्द्र ऐसा अर्थ होने से राथन्तर आदि इन्द्र के विशेषण होते है। याज्ञिकों के मत में विशेषणविशेष से विशिष्ट देवता भिन्न-भिन्न मानी जाती हैं। अतः यहां राथन्तरादि छः विशेषणविशिष्ट इन्द्र देवताओं के लिये ६ याग कहे गये हैं। **पुरोडाशो बहूनां कर्मणां साधारणः**—**इन्द्राय राथन्तराय त्वा जुष्टं निर्वपामि** इत्यादि मन्त्रों से प्रति याग के लिये चार-चार मुष्टि हवि का एक शूर्प में निर्वाप होता है। सब हवियों को एक साथ ही पीस कर एक बड़ा रथ चक्राकार पुरोडाश बनाया जाता है। उसे द्वादश उत्तान (=सीधे) कपालों पर पकाया जाता है। उसे पात्र में रखकर प्रचरण (=याग) काल में पुरोडाश के मध्य भाग को छोड़कर चारों ओर के प्रान्त भाग को मनसा छः भागों में विभक्त करके पूर्व भाग के मध्य से, तथा मध्य पूर्वार्ध से दो वार अवदान करके प्रथम राथन्तर इन्द्र देवता का यजन करता है। प्रकार उससे प्रदक्षिण आरम्भ करक उत्तर की समाप्तिपर्यन्त प्रान्त देशों से पूर्ववत् मध्य से और मध्य पूर्वार्ध से दो-दो बार अवदान करके अन्य देवता का यजन करे। इस के विधायक वचन हैं—**उत्तानेषु कपालेष्वधिश्रयति, द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति, समन्तं पर्यवद्यति** (तै० सं० २।३।७।३-४)। **प्रतिकर्म**—कर्मों यागों के छः होने से प्रतियाग जहां से अवदान किया है, उस के उत्तरार्ध से स्विष्टकृत् के लिये अवदान करना चाहिये। अथवा पुरोडाश के एक होने से पुरोडाश के उत्तरार्ध से एक बार ही अवदान करना चाहिये।

(तै० सं० २।३।७) इत्येकवचनान्तेन निर्देशात्, तत एव च सर्वयागार्थमवदानानामवदानविधानात्।

द्रव्यैकत्वे कर्म्मभेदात् प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥ १६ ॥ (पू०)

चोदनानुग्रहात् प्रतिकर्म कर्त्तव्यम् । एकस्मिन्नपि द्रव्ये बहुत्वात् कर्मणाम् ॥१६॥

अविभागाच्च शेषस्य सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ १७ ॥ (उ०)

सकृदेव कर्त्तव्यमिति ब्रूमः । अविभागाच्छेषस्य । नात्र विभागः सर्वेषां कर्म्मणां पुरोडाशस्य । उत्तरार्द्धात् स्विष्टकृदवदातव्यम्'[इति]। एकश्चासौ उत्तरार्द्धः, ततोऽवदीयमाने न गम्यते विशेषः—कस्यावत्तं कस्य नेति ? एवमिडायामपि । तस्मात् सकृद् अवदातव्यमिति ॥ १७ ॥ **इति सर्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदिडादीनां सकृदनुष्ठानाऽधिकरणम् ॥४॥**

—:०:—

द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात् प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थः—(द्रव्यैकत्वे) पुरोडाश के एक होने पर भी (कर्मभेदात्) यागों का भेद होने से=छः याग होने से (प्रतिकर्म) प्रतियाग स्विष्टकृत् और इडा का अवदान (क्रियेरन्) किये जायें=करने चाहियें ।

व्याख्या—**चोदन (=अतिदेशवचन) के अनुग्रह के लिये प्रतिकर्म [स्विष्टकृत् और इडा का अवदान] करना चाहिये । एक द्रव्य में भी कर्मों के बहुत होने से ॥ १६ ॥**

अविभागाच्च शेषस्य सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थः—(शेषस्य) शेष पुरोडाश के (अविभागात्) विभाग का कथन न होने से, अर्थात् संसृष्ट मिला हुआ होने से (सर्वान् प्रति) सब यागों के प्रति पुरोडाश के (अविशिष्टत्वात्) समान=साधारण एक होने से (च) भी प्रतिकर्म स्विष्टकृत् अवदान नहीं होगा, एक बार ही होगा।

विशेष—यह भाष्यपाठानुसार सूत्रार्थ है। अन्यत्र 'अविभागात् तु' ऐसा सूत्रपाठ मिलता है। इसका अर्थ होगा—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् प्रतिकर्म स्विष्टकृत् का अवदान नहीं होगा। (शेषस्य) बचे हुए पुरोडाश के (अविभागात्) विभाग न होने से········ ।

व्याख्या—**एक बार ही [स्विष्टकृत् और इडा का अवदान] करना चाहिये ऐसा हम कहते हैं। शेष के विभक्त न होने से। यहां सभी कर्मों के शिष्ट पुरोडाश के विभाग न होने से। उत्तरार्ध से स्विष्टकृत् का अवदान करना चाहिये। उत्तरार्ध एक ही है, उससे अवदान करने पर कोई विशेष नहीं जाना जाता है कि—किस [कर्म के शेष का] अवदान किया, किस का नहीं किया ? इसी प्रकार इडा के अवदान में भी। इसलिये [सर्वपृष्ठा इष्टि में] एक बार ही अवदान करना चाहिये ॥ १७ ॥**

—:०:—

---

१. 'उत्तरार्धादवद्यति' इति विधानात् ।

[ऐन्द्रवायवग्रहे द्विःशेषभक्षणाऽधिकरणम् ॥५॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[1] इति। तत्र ऐन्द्रवायवे ग्रहे सन्देहः—किं सकृद् भक्षणम् उत द्विरिति ? सोमसंस्कारार्थत्वात् सकृदिति प्राप्ते ब्रूमः—

ऐन्द्रवायवे तु वचनात् प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ॥ १८ ॥ (उ०)

ऐन्द्रवायवे द्विर्भक्षयितव्यमिति। कुतः ? वचनात्। वचनमिदं भवति—द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ह्येतस्य वषट्करोति[2] इति। नास्ति वचनस्यातिभारः ॥१८॥ इत्यैन्द्रवायवग्रहे द्विःशेषभक्षणाऽधिकरणम ॥५॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम याग कहा है—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम याग से यजन करे)। उसमें ऐन्द्रवायव (=इन्द्र और वायु देवतावाले) ग्रह में सन्देह है—क्या शेष सोम का एक बार भक्षण किया जाये, अथवा दो बार ? शेषभक्षण सोम के संस्कार के लिये होने से एक बार भक्षण के प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—सोमसंस्कारार्थत्वात् सकृत्—भक्षण सोम के संस्कारार्थ हैं। एक बार भक्षण से ही सोम संस्कृत हो गया, पुनः द्वितीय भक्षण प्राप्त नहीं होगा।

ऐन्द्रवायवे तु वचनात् प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ॥ १८ ॥

सूत्रार्थः—(ऐन्द्रवायवे) ऐन्द्रवायव ग्रह के सोम में (तु) तो (वचनात्) द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ह्येतस्य वषट्करोति [=ऐन्द्रवायव सोम का दो बार भक्षण करता है, क्योंकि इसका दो बार वषट् करता है] वचन से (प्रतिकर्म) प्रति होम (भक्षः) भक्ष (स्यात्) होवे।

व्याख्या—ऐन्द्रवायव ग्रहस्थ सोम में दो बार भक्षण करना चाहिये। किस हेतु से ? वचन से। यह वचन होता है—द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ह्येतस्य वषट्करोति (=ऐन्द्रवायव सोम का दो बार भक्षण करता है, क्योंकि दो बार ही इस का वषट्कार [=होम] करता है)। वचन को कोई अधिक भार नहीं होता है।

विवरण—भाष्यकार ने इसे पूर्व अधिकरण का अपवादरूप स्वतन्त्र अधिकरण माना है। परन्तु भट्ट कुमारिल ने इस सूत्र की पूर्व अधिकरण में योजना की है ॥ १८ ॥

—:०:—

---

१. अनुपलब्धमूलम्। आप० श्रौते (१०।२।१) तु 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्येवं श्रूयते।

२. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—द्विरैन्द्रवायवं भक्षयतः (आप० श्रौत १२।२५।२); वषट्कृते जुहोति [अध्वर्युः], पुनर्वषट्कृते जुहुतः [होत्रध्वर्यू] (आप० श्रौत १२।२०।२४)।

[सोमे शेषभक्षणाऽधिकरणम् ॥६॥]

ज्योतिष्टोमे समामनन्ति सोमान्। तेषु सन्देहः—किं तेषां शेषो भक्षयितव्यः, उत नेति ? किं प्राप्तम् ?

सोमेऽवचनाद्भक्षो न विद्यते ॥ १९ ॥ (पू०)

सोमे भक्षो न विद्यते। कस्मात् ? न शक्यमसति वचने अध्यवसातुं भक्षणम्। तस्मात् सोमशेषो न भक्षयितव्यः इति ॥१९॥

स्याद् वाऽन्यार्थदर्शनात् ॥२०॥ (उ०)

भवेद् वा भक्षः। अन्यार्थं हि वचनं भक्षं दर्शयति—सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति[1]। भक्षिताप्यायितांश्चमसान् दक्षिणस्यानसोऽवलम्बे सादयन्ति[2] इति। नासति भक्षणे एवञ्जाती-

---

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में [ग्रह चमस रूप] सोम कहे हैं। उनमें सन्देह होता है—क्या उन सोमों के शेष का भक्षण करना चाहिये, अथवा नहीं करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?

सोमेऽवचनाद् भक्षो न विद्यते ॥ १९ ॥

सूत्रार्थः—(सोमे) सोम में (भक्षः) भक्षण (न विद्यते) नहीं है, (अवचनात्) भक्षण-विधायक वचन के न होने से।

व्याख्या—सोम में भक्षण नहीं होता है। किस हेतु से ? वचन के न होने से भक्षण का निश्चय नहीं हो सकता है। इसलिये सोम के शेष का भक्षण नहीं करना चाहिये ॥१९॥

स्याद् वाऽन्यार्थदर्शनात् ॥ २० ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'सोम का भक्षण न होवे' की निवृत्ति के लिये है। (स्यात्) सोम का भक्षण होवे, (अन्यार्थदर्शनात्) अन्य अर्थ को कहनेवाला वचन होने से।

व्याख्या—**अथवा सोम का भक्षण होवे। अन्य प्रयोजन को कहनेवाला वचन सोम के भक्षण को दर्शाता है**—सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति (**=सब ओर शिर को घुमाकर आश्विन ग्रहस्थ सोम का भक्षण करता है**)। भक्षिताप्यायितांश्चमसान् दक्षिणस्यानसोऽव-

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—सर्वतः परिहारमाश्विनम्। तै. सं. ६।४।९॥ आप०श्रौत १२। २५।१॥ 'आश्विनं तु सर्वतः परिहारं शिरः परितो भ्रमयित्वा भक्षयति' इति भट्टभास्करः (तै. सं. भाष्य ६।४।९)।

२. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—आप. श्रौत १२।२५।७॥ तानि दक्षिणस्य हविर्धानस्योत्तरस्यां वर्त्तन्यां (=वर्त्मनि=मार्गे) सादयति। द्र०— कात्या० श्रौत ९।११।२४॥

यका भक्षविशेषाः सम्भवन्ति ॥२०॥

वचनानि त्वपूर्वत्वात् तस्माद् यथोपदेशं स्युः ॥२१॥ (उ०)

ननु दर्शनमिदं, प्राप्तिर्वक्तव्या। उच्यते— वचनानि तर्हि भविष्यन्ति—**सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति। तस्मात् सर्वा दिशः शृणोति**', इति विशिष्टं भक्षणं विधीयते। अपूर्वत्वाद् भक्षानुवादो नावकल्पते। अपि च, एवमपूर्वमर्थं विदधतोऽर्थवत्ता भविष्यति। तस्माद् यत्रैव विशिष्टं भक्षणं श्रूयते, तत्रैव भवति, नातिप्रसज्ज्यते ॥२१॥ इति **सोमे शेषभक्षणाऽधिकरणम्** ॥६॥

—:०:—

लम्बे सादयन्ति (=भक्षण किये और पुनः सोम से आप्यायित=भरे हुए चमसों को दक्षिण हविर्धान शकट के अवलम्ब के समीप में रखते हैं)। भक्षण न होने पर इस प्रकार के भक्ष-विशेष सम्भव नहीं हैं।

विवरण - सर्वतः परिहारम्—इस में शिर को घुमाकर आश्विन के भक्षण का निर्देश है। यहां शिर को घुमानारूप अन्य अर्थ के बोधन के लिये वचन है। एवंजातीयकाः—तै० सं० ६।४।९ में ऐन्द्रवायव ग्रह को तथा मैत्रावरुण को मुंह के सामने रखकर, और आश्विन ग्रह को सब ओर शिर घुमाकर भक्षणविशेषों का निर्देश मिलता है। आपस्तम्ब श्रौत १२।२५।१ में ऐन्द्रवायव ग्रह को नासिका के समीप में, मैत्रावरुण को आंखों के समीप में, और आश्विन ग्रह को श्रोत्र के समीप में रख कर भक्षण का विधान मिलता है ॥२०॥

वचनानि त्वपूर्वत्वात् तस्माद् यथोपदेशं स्युः ॥२१॥

सूत्रार्थः—सर्वतः परिहारमाश्विनम् आदि (वचनानि) वचन सोमभक्षण के विधायक होंगे (अपूर्वत्वात्) अपूर्व होने से (तस्मात्) इस हेतु से (यथोपदेशः) जैसे उपदेश किया है वैसे (स्युः) होवें।

व्याख्या—यह (='सर्वतः परिहारम्' आदि) भक्षण का दर्शनमात्र है, [भक्षण की] प्राप्ति कहनी चाहिये। कहते हैं—[अन्यार्थदर्शन न होकर भक्षण के] वचन होंगे सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति (=सब ओर शिर घुमा कर आश्विन ग्रहस्थ सोम का भक्षण करता है), तस्मात् सर्वा दिशः शृणोति (=इसलिये सब दिशाओं से सुनता है), इन से विशिष्ट भक्षण का विधान किया जाता है। अपूर्व होने से भक्षण का अनुवाद उपपन्न नहीं होता है। और भी, इस प्रकार अपूर्व अर्थ का विधान करते हुए वचन की अर्थवत्ता होगी। इसलिये जहां ही विशिष्ट भक्षण श्रुत है, वहीं भक्षण होता है। अतिप्रसक्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥

—:०:—

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—सर्वतः परिहारमाश्विनं, तस्मात् सर्वतः श्रोत्रेण शृणोति। तै० सं० ६।४।९।४॥ सर्वतः परिहारमाश्विनं श्रोत्रयोरुपनिग्राहम। आप० श्रौत १२।२५।१॥

[चमसिनां शेषभक्षणाऽधिकरणम् ।।७।।]

ज्योतिष्टोमे एव श्रूयते --**प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य प्र यन्तु सदस्यानाम्**[1] इति । तत्र सन्देहः— किं चमसिनामस्ति भक्षः, न इति ? किं प्राप्तम् ? नेति ब्रूमः । नातिप्रसज्ज्यते, इत्युक्तम्[2] । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

व्याख्या— **ज्योतिष्टोम में ही सुना जाता है**—प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य प्र यन्तु सदस्यानाम् (=**होता का चमस भक्षणार्थ सदःस्थान को प्राप्त होवे, ब्रह्मा का चमस भक्षणार्थ सदःस्थान को प्राप्त होवे, उद्गाताओं का चमस भक्षणार्थ सदःस्थान को प्राप्त होवे, यजमान का चमस भक्षणार्थ सदःस्थान को प्राप्त होवे**) । **इस में सन्देह है— क्या [होतादि] चमसियों का भक्षण है अथवा नहीं है ? क्या प्राप्त होता है ? नहीं है, ऐसा हम कहते हैं [जहां विशिष्ट भक्षण श्रुत है, वहीं भक्षण होता है] । अतिप्रसक्ति (=अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा कह चुके हैं (द्र०—पूर्व सूत्र के अन्त में पृष्ठ ६६३) । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

विवरण—प्रैतु होतुश्चमसः— शुक्रामन्थी ग्रह के प्रचार (=होम) के समय यह प्रैष है । इस का तात्पर्य है—होता का चमस होता के प्रति भक्षण को प्राप्त होवे (द्र०—कात्या० श्रौत ९।११।३ विद्याधर टीका । **सदसि भक्षयन्ति** (न्यायमालाविस्तर में उद्धृत) वचन से भक्षण सदःस्थान में होता है । अतः 'होता का चमस सदःस्थान को प्राप्त होवे' यह कुतुहलवृत्तिकार की व्याख्या अधिक युक्त है । रुद्रदत्त ने भी आप. श्रौत १२।२३।३ में ऐसी ही व्याख्या की है । **ब्रह्मणः**- यहां **एतु चमसः** यह अनुषङ्ग जानना चाहिये । **प्रोद्गातॄणाम्**—यहां बहुवचन से उद्गाता तथा उस के सहायक प्रस्तोता और प्रतिहर्त्ता का ग्रहण जानना चाहिये । चतुर्थ सुब्रह्मण्य का भी वेद के संयोग से ग्रहण इष्ट है, ऐसा रुद्रदत्त का कथन है (आप० श्रौत १२।२६।१३) द्र०—मीमांसा ३।५।२६)प्रयन्तु **सदस्यानाम्**—यहां 'सदस्यानाम्' से पूर्व निर्दिष्ट होता आदि का अनुवाद है,सदस्यों का अभाव होने से । यह कात्या० श्रौत९।११।३ के व्याख्याता विद्याधर शास्त्री का मत है । आप० श्रौत १२।२३।१३ में **प्र सदस्यस्य प्रयन्तु सदस्यानाभिति वा** पाठ है । इस की व्याख्या में रुद्रदत्त ने लिखा है—'जहां सदस्य है, वहां **प्र सदस्यस्य** ऐसा प्रैष होगा । **प्र यन्तु सदस्यानाम्** का भी उतना ही अर्थ है । जितना **प्र सदस्यस्य** का है, सदस्य और उन के चमसों के बहुत्व का संभव न होने से । कुछ व्याख्याता इसी वचन से प्रतिवेद कर्मों के तीन उपद्रष्टा सदस्यों और उन के चमसों का अनुमान करते हैं । वह युक्त नहीं, **सदस्यं सप्तदशमित्येके**[3] (द्र०—आप० श्रौत १०।१।१०) वचन से एक सदस्य का ही निर्देश होने से ।'

---

१. शत० ब्रा० ४।२।१।२९।। कात्या० श्रौत ९।११।३।।

२. मी० भा० ३।५।२१।।

३. सदस्यं सप्तदशं कौषीतकिनः समामनन्ति । स सर्वकर्मणामुपद्रष्टा भवति । आप० श्रौत १०।१।१०,११ ।।

चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२२॥ (उ०)

चमसेष्वस्ति भक्ष इति। कुतः? समाख्यानात्। होतुश्चमसो ब्रह्मणश्चमस उद्गातुश्चमस इति समाख्यया निर्दिश्यते। होता यत्र चमति चमिष्यति अचमीद्वा स होतुश्चमसः। यद्यत्र होता न चमेद्, न होतुश्चमसो भवेत्। तस्माच्चमतीति।

आह—काऽस्य लिङ्गस्य प्राप्तिरिति? सामर्थ्यमिति ब्रूमः। होतुश्चमसेन प्रेतव्यम्। यदि चात्र होता न चमेद्, न शक्यं भवेद्धोतुश्चमसेन प्रैतुम्। न चात्रान्यद् होता ओदनादि चमिष्यति। सोमचमस इति हि तं समाचक्षते। अपि च, न तद्धोतुर्द्रव्यं, यजमानस्य तद् द्रव्यम्। होतुस्तत्र चमनं कर्त्तव्यम्। सोमे च भक्ष्यमाणे तेन होमोऽवकल्पते।

चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(चमसेषु) चमसों में होता आदि का भक्षण है, (समाख्यानात्) 'होतुश्चमसः' आदि समाख्या=संज्ञा से निर्देश होने से। (संयोगस्य) चमस के साथ ऋत्विक् संयोग के (तन्निमित्तत्वात्) उन-उन ऋत्विजों के भक्षणरूप निमित्तत्व के होने से। अर्थात् **होतुश्चमसः** आदि में होता का चमस के साथ संयोग भक्षणरूप निमित्त के कारण ही है।

व्याख्या—**चमसों में भक्षण होता है। किस हेतु से? समाख्या (=संज्ञा) होने से। होता का चमस, ब्रह्मा का चमस, उद्गाता का चमस इत्यादि समाख्या से निर्देश किया जाता है। होता जिस पात्र में भक्षण करता है, भक्षण करेगा अथवा उसने भक्षण किया था, वह होता का चमस कहाता है। यदि इस [चमस] में होता भक्षण न करे, तो होता का चमस न होवे। इस कारण [चमस में] भक्षण करता है।**

विवरण—होता यत्र चमति चमिष्यति—आदान=ग्रहण अर्थवाली चम धातु से अधिकरण में औणादिक असच् प्रत्यय (द्र०—उणादि ३।११७) करने पर प्रैष के समय भूत भविष्यत् और वर्तमान में से किसी भी सम्बन्ध की अपेक्षा होने पर भूत और वर्तमान अर्थ के न रहने पर भी भविष्यत् अर्थ (=**चमिष्यति**) का अनुमान करेंगे। यदि भविष्यद् भक्षण भी न होवे, तो प्रैष का अनुष्ठान (=प्रयोग) ही न होवे (द्र०-तन्त्रवार्तिक)। पाणिनि ने चमु धातु भ्वादिगण में 'अदन' अर्थ में, तथा स्वादिगण में 'भक्षण' अर्थ में पढ़ी है।

व्याख्या—(आक्षेप) **इस लिङ्ग की प्राप्ति क्या है?** (समाधान) **'सामर्थ्य है' ऐसा हम कहते हैं। होता के चमस से [सदःस्थान को] गमन करना चाहिये=प्राप्त होना चाहिये। यदि इस चमस में होता भक्षण न करे, तो होता के चमस से गमन न हो सके। इस चमस में होता अन्य ओदन आदि का भक्षण नहीं करेगा क्योंकि इस को 'सोमचमस' ही कहते है। और भी, वह [सोम] द्रव्य होता का नहीं है, यजमान का वह द्रव्य है। होता को उसमें भक्षण करना चाहिये। और सोम के भक्षण करने पर ही उस भक्षित सोम से होम हो सकता है। सोम पवित्र है, उस के**

पवित्रं हि सोमो, न तस्मिन् भक्षिते पात्रं व्यापद्यते। तत्र चमसेन शक्यते होतुम्। वचनप्रामाण्यादुच्छिष्टेन होष्यतीति चेद्, नैतदेवम्। असति अवकाशे वचनं बाधकं भवति। अस्ति चावकाशः सोमभक्षणम्। तस्माच्चमसिभिर्भक्षयितव्यः सोम इति।

अथ तक्षणादीन्याश्रीयेरन्। तथा सम्बन्धापह्नवाद् अतच्चमसतैव स्यात्, द्रव्यान्तरं स्यात्। तस्माच्चाब्राह्मणस्य सोमं प्रतिषेधति—**स यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं बिभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः संपिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्, न सोमम्**[1] इति, भक्ष-निवृत्तिं दर्शयति। सा एषा भक्षाशङ्कैवं सत्युपपद्यते, यदि चमसिनोऽस्ति भक्षः। तस्मादस्तीति मन्यामहे ॥२२॥ इति **चमसिनां शेषभक्षाऽधिकरणम्** ।७॥

—:o:—

भक्षण करने पर पात्र दूषित (=उच्छिष्ट) नहीं होता है। ऐसी अवस्था में चमस से होम किया जा सकता है। यदि कहो कि वचनप्रामाण्य से [अन्य ओदन आदि से] उच्छिष्ट चमस से होम किया जा सकता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। [सोमभक्षण का] अवकाश न होने पर वचन बाधक होता है। अवकाश है सोम के भक्षण के प्रति। इसलिये चमसियों (=जिन का चमस है उन) से सोम का भक्षण होना चाहिये।

विवरण—**वचनप्रामाण्यादुच्छिष्टेन**—इस का भाव यह है कि वचनप्रमाण से अन्य ओदन आदि से उच्छिष्ट चमस से होम किया जा सकता है। सोम का भक्षण अनावश्यक है। **अस्ति चावकाशः**—इस का तात्पर्य यह है कि **अल्पं जुहोति** (अनुपलब्धमूल) वचन से सशेष होम का विधान होने से अवशिष्ट सोम का भक्षणरूप प्रतिपत्ति कर्म प्राप्त है।

व्याख्या—**[यदि कहो कि सोम के भक्षण के पश्चात् पात्र की शुद्धि के लिये] तक्षण (=छीलना) आदि का आश्रयण किया जावे [तो यह ठीक नहीं है]। ऐसा (=तक्षण आदि) करने पर होता आदि का [चमस=भक्षण] सम्बन्ध के नष्ट हो जाने से, अतच्चमसता (=उन होता आदि का चमस न होना) होगी, तथा [तक्षित] द्रव्यान्तर हो जायेगा। इस कारण अब्राह्मण के सोम [भक्षण] का प्रतिषेध किया है**—स यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं बिभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः संपिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्यै भक्षं प्रयच्छेत्, न सोमम् **(=यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य को सोमयाग कराये, और वह यदि सोमभक्षण करना चाहे, तो बड़ की कोंपल[2] वा फल लाकर उन को पीसकर दही में मिलाकर उसके लिये उस भक्ष को देवे, सोम [पीने] को न देवे)। यह [क्षत्रिय और वैश्य] के सोमभक्षण की निवृत्ति दर्शाता है। यह [क्षत्रिय और वैश्य के सोम के] भक्षण की आशङ्का ऐसा होने पर ही उपपन्न होती है, यदि चमसियों का भक्षण होता है। इस कारण चमसियों का सोम का भक्षण] है, ऐसा हम मानते हैं।**

---

१. अयमेव पाठो भाष्यकारेण मी० ३।६।३६ भाष्य उद्धरिष्यते। अल्पपाठभेदेन–आप० श्रौत १२ २४।५॥ तथा सत्या० (हिरण्य०) श्रौत ८।७।४३; पृष्ठ ८८२॥

२. स्तिभी=स्तिभिनी मुकुल अङ्कुर से तात्पर्य बड़ के नये पत्ते की कली अथवा कोंपल से है।

[उद्गातॄणां सहसुब्रह्मण्येन भक्षाऽधिकरणम् ॥८॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**' इति। तत्रास्ति—**प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणाम्**' इति। तत्रास्ति समाख्यानाद् भक्ष इत्युक्तम्। तत्र सन्देहः—

विवरण—**तक्षणादीन्याश्रीयेरन्**—काष्ठ के पात्रों की शुद्धि मनुस्मृति ५।११५ में तक्षण=छीलने से कही है। चमस के तक्षण करने पर **सम्बन्धापह्नवात्** होता आदि का भक्षण द्वारा जो चमस के साथ सम्बन्ध था, वह नष्ट हो जायेगा। **द्रव्यान्तरं स्यात्**—नियत प्रमाण से युक्त पात्र की चमस संज्ञा है। यदि उसका तक्षण कर दिया जायेगा, तो नियत प्रमाण के नष्ट हो जाने से वह चमस नहीं रहेगा। **तस्माच्चाब्राह्मणस्य सोमभक्षणं प्रतिषेधन्ति**—इस वचन को कुतूहलवृत्तिकार सूत्र मानकर पृथक् व्याख्यान करता है। अन्य इसे भाष्यकार का वचन ही मानते हैं। **स यदि राजन्यम्**—सः=वह=अध्वर्यु। न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य—आप० श्रौत १२।२४।५; सत्या० (हिरण्य०) श्रौत ८।७।४३, तथा वैखानस श्रौत १५।३१।२ में '**न्यग्रोधस्तिभिनीः**' पाठ है। दोनों का अर्थ समान है, परन्तु इनके अर्थ में व्याख्याकारों का मतभेद है। कात्या० श्रौत १०।६।२६ में **स्तिभीन्** पाठ है। विद्याधर शास्त्री ने 'फल के गुच्छे' अर्थ किया है। **स्तिभिनीः** का अर्थ आप० श्रौत १२।२४।५ में रुद्रदत्त ने भी 'फल के गुच्छे' ही किया है। सत्या० श्रौत ८।७।४३ में गोपीनाथ भट्ट ने 'फल' तथा 'अङ्कुर' किया है (पृष्ठ ८८३)। जैमिनिन्यायमाला ३।५। अधि० १६ (पृष्ठ १८४ चौखम्भा सं.) में माधवाचार्य ने मुकुल=कली, और शास्त्रदीपिका ३।५। अधि० १८ (पृ. २६४) की टीका में सोमनाथ ने 'फल' अर्थ किया है। हमारे मीमांसाशास्त्र के आचार्य चिन्नस्वामी जी ने तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली के पृ. १३३ के नीचे टिप्पणी में **भाट्टभास्करे स्तिभिनीपदेन न्यग्रोधे लम्बमानं रज्ज्वाकारवस्तु गृह्यत इत्युक्तम्** लिखा है (यह पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ)। आचार्यपाद ने 'जटा' अर्थ को अयुक्त कहा है। परन्तु हमारे विचार में व्याख्याकारों में मतभेद होने से मूलार्थ का निश्चय ही कठिन हो गया है। इस का कारण यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों ने चिरकाल से अब्राह्मणों को सोमयाग कराना छोड़ दिया। यदि अब्राह्मणों को भी सोमयाग कराने की परम्परा वर्तमान रहती, तो अर्थ में वैमत्य उत्पन्न न होता। पिसी हुई न्यग्रोधस्तिभियां जिस चमस में ग्रहण की जाती हैं, उसे शास्त्रकार **फलचमस** कहते हैं। (द्र०—मी. ३।५।४७ सूत्र तथा भाष्य)। इस नामकारण से स्तिभी का अर्थ न्यग्रोधफल मानना अधिक युक्त प्रतीत होता है।२२॥

—:०:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम** याग कहा है—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेन (=**स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे**)। वहां कहा है—प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणाम् (=**होता का चमस सद को प्राप्त होवे, ब्रह्मा का चमस सदः को प्राप्त होवे, उद्गाताओं का चमस सदः को प्राप्त होवे**)। वहां (=**होता आदि के चमसों में**) समाख्या से **सोम का भक्षण होता है, यह पूर्व कह चुके**। वहां (=**प्रोद्गातॄणाम् में**) संदेह है—**क्या इस चमस का**

---

१. पूर्व पृष्ठ ६६१ टि० १॥ २. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६६४ टि० १॥

किमेक एवैनं चमसमुद्गाता भक्षयेद्, उत सर्वे भक्षयेयुः ? अथ सुब्रह्मण्यवर्जिता-श्छन्दोगा भक्षयेयुः, अथ वा सह सुब्रह्मण्येनेति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥ (पू०)

एको भक्षयेदुद्गातैव । कुतः ? श्रुतिसंयोगात् । उद्गातैकः श्रुत्या संयुज्यते चम-सेन—**प्रोद्गातॄणामिति** । ननु बहुवचनं श्रूयते, तेन बहवो भक्षयेयुः । उच्यते—श्रूयते बहुवचनम् । तदुद्गातृप्रातिपदिकगतं, तद् विवक्षितं सदुद्गातृबहुत्वं ब्रूयात् । एकश्चोद्-गाता, तत्र बहुत्वं श्रूयमाणमपि न शक्नुयादुद्गातृभेदं कर्त्तुम् । तस्माद् अविवक्षितं बहुवचनम् । अनुमानं हि एतद् 'बहूनां चमस' इति । कथम् ? यद् बहुषु प्रातिपदिकं वर्त्तते, ततो बहुवचनं भवति । बहुवचनं तु ततो दृश्यते—**प्रोद्गातॄणामिति** । तस्मान्नूनं 'बहूनां चमस' इत्यनुमानम् । प्रत्यक्षं त्वेक उद्गाता, न द्वितीयः, न तृतीयः । अनुमानाच्च प्रत्यक्षं कारणं बलवद् भवेत् । तस्मादेकस्य चमसः, स चोद्गातुरिति ॥२३॥

एक उद्गाता ही भक्षण करे, अथवा सब [उद्गातृगण] भक्षण करें ? तथा सुब्रह्मण्य को छोड़कर शेष सामवेदी (=उद्गातृगण) भक्षण करें, अथवा सुब्रह्मण्य के साथ भक्षण करें ? क्या प्राप्त होता है ?

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(उद्गातृचमसम्) 'प्रोद्गातॄणाम्' वचन में श्रुत उद्गातृचमस को (एकः) एक उद्गाता भक्षण करे, (श्रुतिसंयोगात्) 'प्रोद्गातॄणाम्' श्रुति के साथ उद्गाता का संयोग होने से ।

व्याख्या—**एक उद्गाता ही भक्षण करे । किस हेतु से ? श्रुति के संयोग होने से । एक उद्गाता 'प्रोद्गातॄणाम्' श्रुति से संयुक्त होता है ।** (आक्षेप) **['प्रोद्गातॄणाम्' में] बहुवचन सुना जाता है । उससे बहुत भक्षण करें ।** (समाधान) **बहुवचन सुना जाता है । वह बहुवचन उद्गातृ प्रातिपदिक से है । वह बहुवचन विवक्षित होता हुआ उद्गाता के बहुत्व को कहेगा । उद्गाता एक ही है । वहां (=उद्गाता में) बहुत्व सुना हुआ भी उद्गाता के भेद को नहीं कर सकेगा । इस कारण बहुवचन अविवक्षित है । यह अनुमान ही है कि 'बहुतों का चमस' है । कैसे ? जो बहुत अर्थ में प्रातिपदिक वर्तमान होता है, उस से बहुवचन होता है । बहुवचन तो उस (=उद्गातृ) से देखा जाता है**—प्रोद्गातॄणाम् । **इस से निश्चय होता है कि बहुतों का चमस है, यह अनुमान है । प्रत्यक्ष तो एक ही उद्गाता है, न दूसरा, न तीसरा, अनुमान से प्रत्यक्ष कारण बलवान् होता है । इस हेतु से एक का चमस है, और वह उद्गाता का है ।**

विवरण -उद्गातृभेदम्—अनेक उद्गाताओं का कथन नहीं कर सकता । **यद् बहुषु प्रातिपदिकं वर्तते—द्र०—बहुषु बहुवचनम्** (अष्टा० १।४।२१) की वृत्तियां तथा महाभाष्य ॥२३॥

सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥ २४ ॥ (पू०)

सर्वे वा भक्षयेयुः । एकस्मिन्नुद्गातरि भक्षयति बहुवचनं प्रमादादधीतमिति गम्यते । न हि तद् अनूद्यते, न विधीयते इति । ननु सर्वेष्वपि भक्षयत्सु उद्गातृ-शब्दः प्रमादो गम्यते । उच्यते । लक्षणाऽर्थोऽपि तावत् सम्भविष्यति—उद्गातृप्रभृतय इति ॥२४॥

उच्यते —नैतदस्ति 'बहूनां चमस' इति । कुतः ? उद्गातृशब्दस्य चमसेन संबन्धः प्रत्यक्षेण वाक्येन । बहुवचनस्य पुनरुद्गातृशब्देन श्रुत्या संबन्धः । अन्येन ऋत्विजा तु बहुवचनस्य नैव कश्चिदस्ति सम्बन्धः । तस्माद् बहूनां चमस इत्यनुपपन्नमिति । अत्रोच्यते —

स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद् बहुत्वश्रुतेः[1] ॥२५॥ (पू०)

सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व 'एक भक्षण करे' पक्ष का निवर्तक है। (सर्वे) सब भक्षण करें (सर्वसंयोगात् [बहुवचन से] सब के साथ चमस का संयोग होने से।

व्याख्या—सब (=उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य) भक्षण करें। एक उद्गाता के भक्षण करने पर ['होतॄणाम्' में] बहुवचन प्रमाद से पढ़ा हुआ जाना जायेगा। क्योंकि वह बहुत्व न अनूदित है और न विहित है। (आक्षेप) सब के भक्षण करने पर भी उद्गातृ शब्द प्रमाद-पठित जाना जायेगा [अर्थात् बहुवचन सामर्थ्य से प्रस्तोतादि का ग्रहण होने पर उद्गाता का पाठ व्यर्थ होगा]। (समाधान) लक्षणार्थ भी सम्भव हो सकेगा—[उद्गातारः=] उद्गाता प्रभृति ॥२४॥

व्याख्या—'बहुतों का चमस है' यह नहीं है। किस हेतु से ? उद्गातृ शब्द का चमस के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष वाक्य से जाना जाता है। बहुवचन का उद्गातृ शब्द के साथ श्रुति से सम्बन्ध है। अन्य ऋत्विक् के साथ तो बहुवचन का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस कारण 'बहुतों का चमस है' यह उपपन्न नहीं होता है। इस विषय में कहते हैं—

स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद् बहुत्वश्रुतेः ॥२५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व 'बहुतों का चमस होने से सब भक्षण करें' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (स्तोत्रकारिणाम्) स्तोत्र पढ़नेवालों का चमस है। (तत्संयोगात्) तीन स्तोत्रकारियों के साथ संयोग होने से (बहुत्वश्रुतेः) बहुवचन के श्रवण से भी।

---

१. प्रायेण मुद्रितेषु भाष्यपुस्तकेषु 'बहुश्रुतेः' इत्यपपाठः। वृत्तिकाराः 'बहुत्वश्रुतेः' इत्येव पाठमाश्रयन्ति।

शक्नोत्ययमुद्गातृशब्दो बहुत्वं वदितुं क्रियायोगेन—उद्गायन्ति इत्युद्गातारः। के ते ? प्रस्तोता उद्गाता प्रतिहर्त्ता इति। तदेतेन बहुवचननिर्देशेन आनुमानिकक्रियायोगनिमित्त उद्गातृशब्दो विवक्षित इत्यवगमिष्यामः। बहुवचनं हि एवमवक्लृप्तं भविष्यति, उद्गातृशब्दश्च। तस्मात् स्तोत्रकारिणां चमस इति ॥२५॥

सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणादेकदेशे स्यात् ॥२६॥ (उ०)

सर्वे छन्दोगाः सहसुब्रह्मण्या भक्षयेयुः। किमिति ? गानसंयोगादिति नायं पक्ष उपपद्यते। कथम् ? एकस्तत्रोद्गानेन सम्बद्धः, इतरो[1] गानेन। अन्यद्धि गानम् अन्यद्-

---

व्याख्या—यह उद्गातृ शब्द क्रिया के योग से बहुत्व को कह सकता है—जो उच्चैः गान करे वे उद्गाता होते हैं। वे कौन हैं ? प्रस्तोता उद्गाता और प्रतिहर्ता। अतः इस बहुवचन के निर्देश से आनुमानिक क्रियायोगनिमित्तक उद्गातृ शब्द विवक्षित है, ऐसा जान लेंगे। इस प्रकार बहुवचन अवक्लृप्त (=उपपन्न) हो जायेगा और उद्गातृ शब्द भी। इसलिये स्तोत्रकारियों का चमस है।

विवरण—प्रस्तोता उद्गाता प्रतिहर्त्ता—साम का गान प्रस्तोता आदि तीन ऋत्विक् ही करते हैं। इस कारण **उद्गायन्ति** क्रिया के योग से इन का ही ग्रहण होगा। चौथा सुब्रह्मण्य का साम के साथ सम्बन्ध नहीं है। वह तो केवल **सुब्रह्मण्योमिन्द्रागच्छ** आदि निगद का ही उच्चारण करता है। अत एव उस की सुब्रह्मण्य संज्ञा है। 'सुब्रह्मण्योम्' निगद यजु विशेष ही है। द्र०—**यजूंषि वा तद्रूपत्वात्** (मी० २।१।४०) सूत्र। इसीलिये पाणिनि ने भी यजुष्ट्व धर्म से एक श्रुति प्राप्त होने पर **न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः** (अष्टा० १।२।३७) से एक श्रुति का प्रतिषेध किया है ॥२५॥

सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणाद् एकदेशे स्यात ॥२६॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' पूर्व 'सुब्रह्मण्य को छोड़ कर शेष उद्गाता आदि भक्षण करें' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (सर्वे) सभी छन्दोग=सामवेदी=उद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्त्ता और सुब्रह्मण्य चमस का भक्षण करें (वेदसंयोगात्) सामवेद प्रतिपादित कर्म के साथ सभी का संबन्ध होने से। (एकदेशे) एक देश=सुब्रह्मण्य को छोड़कर शेष तीन ऋत्विजों में उद्गातृ शब्द का व्यवहार (कारणात्) **'उपगातारो निषध स्तुवते'** वचन में स्तौति क्रिया के योग रूप कारण से विवक्षित (स्यात्) होवे।

व्याख्या—**सुब्रह्मण्य के सहित सभी छन्दोग (=सामवेदी) चमस का भक्षण करें। किस कारण से ? 'गान के संयोग से' [सुब्रह्मण्य को छोड़कर भक्षण करें] यह पक्ष उपपन्न नहीं होता है। कैसे ? उन में एक उद्गान (=उद्गीथ) से संबद्ध है, शेष दोनों (=प्रस्तोता**

---

१. अत्र 'इतरौ' पाठो युक्तः स्यात। इतरौ=प्रस्तोता प्रतिहर्तारौ गानेन संबद्धौ।

उद्गानम्। गीतिमात्रं गानं लौकिकं वैदिकञ्च। द्वितीयं साम्नः पर्व उत्पूर्वस्य गायतेरभिधेयं प्रसिद्धम्। तत्रैक एवोद्गीथं करोतीत्येक एवोद्गाता, न बहवः। तस्माद् गानसंयोगाद् बहवो भविष्यन्तीत्येतदपि नोपपद्यते। कथं तर्हि? वेदसंयोगात्। औद्गात्रं नाम प्रवचनम्। तथा औद्गात्राणि कर्माणि। औद्गात्रस्य कर्त्ता वा अध्येता वोद्गातेत्युच्यते। कथम्? उद्गातुः कर्म औद्गात्रमिति प्रसिद्धम्। एवञ्चेद व्यक्तम् औद्गात्रस्य कर्त्ता उद्गातेति गम्यते। यस्योद्गाता प्रसिद्धस्तद्विशिष्टं कर्म अनाख्यातमपि औद्गात्रमिति वदति। शब्दश्च यस्य औद्गात्रं प्रसिद्धं, स तस्य कर्त्तारमुद्गातेति वदति, अनाख्यातमपि। यथा यस्योदमेघः प्रसिद्धः, स तस्यानाख्यातमप्यपत्यमौदमेघिरिति ब्रूते। यस्यौदमेघिः, स तस्य पितरमनाख्यातमप्युदमेघं प्रतिपद्यते। एवमौद्गात्रसम्बन्धाद् उपपद्यते उद्गातृशब्दः, प्रस्तोतापि उद्गातापि प्रतिहर्त्तापि सुब्रह्मण्योऽपि। एवं बहुवचनमुद्गातृशब्दश्चोभयमप्युपपन्नं भविष्यति। न चान्यः कश्चिद्दोषः। तस्मादौद्गात्रेण सम्बद्धाश्चत्वार उद्गातृचमसं भक्षयेयुरिति। यत्र कारणमस्ति, तत्रापसुब्रह्मण्या उद्गातारः। यथोद्गातृशब्दः—विनिषद्योद्गातारः साम्ना स्तुवते इति स्तोत्रकारिषु। यथेदमपि

प्रतिहर्त्ता) गान से संबद्ध हैं। गान अन्य है, और उद्गान अन्य है। लौकिक और वैदिक गीतिमात्र गान है। दूसरा (=उद्गीथ) साम का पर्व (=भाग उद्गीथ) उत्पूर्वक गायति का अभिधेय (=वाच्य) प्रसिद्ध है। उन में एक ही उद्गीथ करता है, इस कारण एक ही उद्गाता है, बहुत नहीं हैं। इसलिये 'गान के योग से बहुत उद्गाता होंगे' यह भी उपपन्न नहीं होता है। तो कैसे [बहुत उद्गाता] होता है? वेद के संयोग से। औद्गात्र नाम प्रवचन (=सामवेद) है, तथा औद्गात्र कर्म हैं। अतः औद्गात्र [कर्म] का कर्त्ता अथवा [औद्गात्र=सामवेद का] अध्येता उद्गाता कहा जाता है। किस प्रकार? उद्गाता का कर्म 'औद्गात्र' प्रसिद्ध है। जब ऐसा है तो स्पष्ट औद्गात्र कर्म का कर्त्ता 'उद्गाता' ऐसा जाना जाता है। जिस व्यक्ति को उद्गाता प्रसिद्ध है, वह उस (=उद्गाता) से विशिष्ट कर्म को बिना कहे भी औद्गात्र ऐसा कहता है। और जिस को औद्गात्र शब्द प्रसिद्ध (=जाना हुआ) है, वह उसके कर्त्ता को बिना कहे भी उद्गाता कहता है। जैसे जिस को उदमेघ प्रसिद्ध है, वह बिना कहे भी उस के अपत्य को औदमेघि ऐसा कहता है। जिस को औदमेघि [प्रसिद्ध है] वह बिना कहे भी उस के पिता उदमेघ को जान लेता है। इसी प्रकार औद्गात्र सम्बन्ध से उद्गातृ शब्द उपपन्न होता है। प्रस्तोता भी, उद्गाता भी प्रतिहर्ता भी और सुब्रह्मण्य भी [उद्गाता कहे जाते हैं]। इस प्रकार बहुवचन और उद्गातृ शब्द दोनों ही उपपन्न हो जायेंगे। और कोई दोष नहीं है। इसलिये औद्गात्र से सम्बद्ध चारों उद्गातृचमस का भक्षण करें। जहां कारण होता है, वहां सुब्रह्मण्य को छोड़कर उद्गाता कहे जाते हैं। जैसे—विनिषद्योद्गातारः साम्ना स्तुवते (=बैठकर उद्गाता साम से स्तुति करते हैं) में

वचनम्—उद्गातारो नापव्याहरेयुरुत्तमायामेषोत्तमा इति अपसुब्रह्मण्यानामेव ॥२६॥
उद्गातॄणां सहसुब्रह्मण्येन भक्षाधिकरणम् ।।८।।

—:०:—

[ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षाधिकरणम् ।।९।।]

ज्योतिष्टोमे ग्रावस्तुन्नामहोतृपुरुषः। तत्र सन्देहः—किं स सोमं भक्षयेद्, न इति ? उच्यते—

स्तोत्रकारियों में उद्गाता शब्द व्यवहृत होता है । और जैसे यह भी वचन—उद्गातारो नापव्याहरेयुरुत्तमायामेषोत्तमा (**=उदगाता उत्तमा=तीसरी ऋचा के उच्चारण के समय अपभाषण न करें यह उत्तमा है ?) यहां सुब्रह्मण्य को छोड़कर अन्यों को ही उद्गाता कहता है ।**

विवरण—द्वितीयं साम्नः पर्व– साम की पांच भक्तियां (=भाग) होती हैं–प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इन में द्वितीय भक्ति उद्गीथ हैं। इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है कि भाष्यकार ने 'भक्तिः' के स्थान में 'पर्व' शब्द प्रमाद से प्रयोग किया है। हमारे विचार में भक्ति भाग पर्व तीनों समान अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। यह बात दूसरी है कि साम भक्ति के स्थान में सामपर्व का व्यवहार नहीं मिलता है। **औद्गात्रं नाम प्रवचनम्**— छन्दोग=साम का प्रवचन ही औद्गात्र उद्गाता वा उद्गातृ गण से सम्बद्ध है। गोपथ ब्रा० १ २।२४ में कहा है—**सामविदमेवोद्गातारं वृणीष्व स ह्यौद्गात्रं वेद**=सामवेद के जाननेवाले को ही उद्गाता वरण करो वह ही औद्गात्र कर्म को जानता है। साम=छन्दोग प्रवचनस्थ कर्म औद्गात्र कहाता है। **औद्गात्रस्य कर्ता, अध्येता वा उद्गातेत्युच्यते**—इस न्याय का अवेष्ट्यधिकरण (मी० २।३ अधि० २ सूत्र ३) में निराकरण किया है। वहां **राज्यं यस्य कर्म स राजा**···**एवं राज्ययोगाद् राजशब्दः** पूर्वपक्ष [पृष्ठ ५३५] में लिखकर सिद्धान्त पक्ष में **न तु तस्य कर्तेति प्रत्ययलोपं वा प्रातिपादिकप्रत्यापत्तिं वा समामनन्ति । तस्माद् राज्ञः कर्म राज्यम्, न राज्यस्य कर्ता राजा** (राज्य का कर्ता इस अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय का लोप अथवा प्रातिपदिक की प्रत्यापत्ति=वापसी का कथन वैयाकरण नहीं करते। इसलिये राजा का कर्म राज्य है न कि राज्य का कर्त्ता राजा [द्र०—पृष्ठ ५३६]से 'राज्य का कर्त्ता राजा' का खण्डन किया है। तदनुसार भाष्यकार का यह कथन पूर्व सिद्धान्त के विपरीत होने से त्याज्य है। **तस्मादौदगात्रेण सम्बद्धाश्चत्वार उद्गातृचमसं भक्षयेयुः** इस भाष्यकारीय सिद्धान्त का भट्ट कुमारिल ने खण्डन किया है। परन्तु कुतुहलवृत्तिकार ने जैमिनीय कल्पसूत्र के प्रामाण्य से भाष्यकार शबर स्वामी के मत की पुष्टि की है और इसी मत को जैमिनि-सम्मत कहा है। द्र०— कुतुहलवृत्ति ३।५।२६, भाग १, पृष्ठ ४६६-४६७ ॥२६॥

—:०:—

व्याख्या– ज्योतिष्टोम में ग्रावस्तुत् नाम का होता का पुरुष है। उस के विषय में सन्देह है— क्या वह सोम का भक्षण करे अथवा न करे ? इस विषय में कहते हैं—

ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥२७॥ (पू०)

ग्रावस्तुद् न भक्षयेत् । कुतः ? यतोऽस्य भक्षं नामनन्ति । हारियोजने चमसिनामधिकार इति मन्यमान एवं ह स्माह—नास्याम्नायते भक्ष इति ॥२७॥

हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ॥२८॥ (उ०)

हारियोजनस्य वा ग्रावस्तुतं भक्षयितारं मन्यामहे । एवं हि आमनन्ति—**यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति । अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे एव लिप्सन्ते**[1] इति ।

विवरण— ग्रावस्तुन्नाम होतृपुरुषः— होता के ३ पुरुषों के नाम इस प्रकार हैं—मैत्रावरुण, अच्छावाक, ग्रावस्तुत् ।

ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(ग्रावस्तुतः) ग्रावस्तुत् का (भक्षः) सोम भक्षण (न विद्यते) नहीं है (अनाम्नानात्) पाठ न होने से ।

व्याख्या—ग्रावस्तुत् भक्षण न करे । किस कारण से ? जिस कारण इस का भक्षण नहीं पढ़ते हैं । 'हारियोजन ग्रह में चमसियों को ही भक्षण का अधिकार है' ऐसा मानता हुआ [पूर्वपक्षी] कहता है – इस (=ग्रावस्तुत्) का भक्षण नहीं पढ़ा जाता है ।

विवरण— हारियोजने चमसिनाम्—हरिरसि हारियोजनः (तै० सं० १।४ २६) इस मन्त्र से गृह्यमाण ग्रह हारियोजन कहाता है । **चमसिनामधिकारः— यथाचसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति अथैतस्य हारियोजनस्य सर्व एव लिप्सन्ते** (शत० ब्रा० ४।४।३।१०) अर्थात् चमसी होता मैत्रावरुण आदि अपने-अपने चमस को यथाधिकार खाते हैं, हारियोजन में तो सभी चमसी प्राप्ति की इच्छा करते हैं । इस अर्थ के अनुसार हारियोजन में भी चमसियों की लिप्सा ही कही है (विशेष द्र०—चमासिनां वा सन्निधानात् ३।५।२९ सूत्र का भाष्य) ॥२७॥

हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ॥२८॥

सूत्रार्थः (वा) 'वा' शब्द पूर्व 'ग्रावस्तुत् का भक्षण नहीं है' पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (हारियोजने) हारियोजन ग्रह में (सर्वसंयोगात्) सर्वे लिप्सन्ते वचन में सर्व शब्द का संयोग होने से ग्रावस्तुत् का भक्षण है ।

व्याख्या— हारियोजन ग्रह के सोम का ग्रावस्तुत् को भक्षयिता मानते है । ऐसा पढ़ते हैं—यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे एव लिप्सन्ते (यथाचमस=जिस का जो चमस है उसको तथा अन्य चमसों का चमसी लोग भक्षण करते हैं । इस हारियोजन ग्रह के सोम के भक्षण की तो सभी इच्छा करते हैं) । जब हारियोजन

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

यदा हारियोजनस्य सर्वे लिप्सन्ते, तदा ग्रावस्तुदपीति ॥२८॥

चमसिनां वा सन्निधानात् ।२६॥ (पू०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति ग्रावस्तुतो हारियोजने भक्ष इति, चमसिनां तत्राधिकारः, न सर्वेषाम् । कथम् ? चमसिनामेव विभागः । चमसिनोऽन्यांश्चमसान् यथाचमसं भक्षयन्ति इत्यनूद्य चमसिन एव वदति—अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे एव लिप्सन्ते इति । एकं हीदं वाक्यम् । अथैतस्येत्यथशब्दप्रयोगाद् अनन्तरवृत्तमपेक्षते । अथ सर्व एवेत्येवशब्दः, सामर्थ्यात् सर्वान् पूर्वप्रकृतानपेक्षते । अतो मन्यामहे—यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्तीत्यनेन पूर्वेण अथैतस्य हारियोजनस्येत्येतस्य एकवाक्यता भवतीति । तेन चमसिनां सन्निहितानामेव विभागः, यथा चमसमन्यत्र, हारियोजने तु सर्वे एवेति ॥२६॥

सर्वेषां तु विधित्वात् तदर्था चमसिश्रुतिः ॥३०॥ (उ०)

ग्रह के सोम की प्राप्ति की सभी इच्छा करते हैं, तब ग्रावस्तुत् भी प्राप्ति की इच्छा करता है, अर्थात् भक्षण करता है ॥२८॥

चमसिनां वा सन्निधानात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'हारियोजन का ग्रावस्तुत् भक्षण करता है' पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है । (चमसिनाम्) **अथैतस्य हारियोजनस्य** वाक्य में चमसियों के (सन्निधानात्) समीप में पठित होने से चमसी ही हारियोजन ग्रहस्थ सोम की लिप्सा करते हैं । ग्रावस्तुत् चमसी नहीं है ॥२६॥

व्याख्या—'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष को हटाता है । यह नहीं है कि ग्रावस्तुत् का हारियोजन में भक्षण है । उस (=हारियोजन) में चमसियों का ही अधिकार है, सब का नहीं है । कैसे ? चमसियों का ही विभाग किया है—'चमसी लोग यथाचमस अन्य चमसों को खाते हैं' ऐसा अनुवाद करके चमसियों को ही कहता है—अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे एव लिप्सन्ते । यह एक वाक्य है । अथैतस्य 'अथ' शब्द के प्रयोग से समीप में वर्तित की ही अपेक्षा करता है । अथ सर्व एव में 'एव' शब्द के सामर्थ्य से सब पूर्व प्रकृतों की अपेक्षा करता है । इसलिये हम मानते हैं—यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति इस पूर्व के साथ अथैतस्य हारियोजनस्य इस की एक वाक्यता होती है । इस कारण समीप में पठित चमसियों का ही यह विभाग है—यथा चमस अन्यत्र भक्षण करें, हारियोजन में सभी तो चमसी भक्षण करें ॥२६॥

सर्वेषां तु विधित्वात् तदर्था चमसिश्रुतिः ॥३०॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व 'हरियोजन में चमसी ही प्राप्ति की इच्छा करते हैं' पक्ष

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतदस्ति चमसिन एव हारियोजने लिप्सन्ते इति। सर्वे तु विधीयन्ते हारियोजने – सर्वे भक्षयन्तीति। न पुनश्चमसिन इति सम्बन्धः शक्यते विधातुम्। द्वौ हि सम्बन्धावस्मिन् वाक्ये अपूर्वौ न शक्येते विधातुम्। तस्मादन्या वचन-व्यक्तिः। का पुनरसौ? यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति इत्यनुवादः। चमसिनश्चमसान् भक्षयन्त्येव। ते भक्षयन्तो यथाचमसमेव। अथैतस्य हारियोजनस्य न केवलं चमसिनः, सर्वे एवेति। किमेवं भविष्यति? सर्वशब्दश्च सर्वान् वदन् नैकदेशे कल्पितो भविष्यति। न च द्वौ सम्बन्धावपूर्वौ एकस्मिन् वाक्ये भविष्यतः। तस्माद् एष पक्षो ज्यायानिति। तदर्था हि एषा चमसिश्रुतिः। हारियोजनस्य प्रशंसार्था चमसिनः कीर्त्यन्ते हारियोजनं प्रशंसितुम्। कथम्? महाभागो हि हारियोजनः। यस्मात् तत्र सर्वे लिप्सन्ते, अन्यांश्चमसानेकैकः, न ते महाभागाः, न्यूना हारियोजनादिति ॥३०॥

ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षाधिकरणम् ॥६॥

—:०:—

को निवृत्त करता है। (सर्वेषाम्) सब की (विधित्वात्) भक्षण में विधि होने से (चमसिश्रुतिः) पूर्ववाक्य में चमसियों का श्रवण (तदर्था) हारियोजन की स्तुति के लिये है।

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष को निवृत करता है—'**हारियोजन में चमसी ही प्राप्ति की इच्छा करते हैं'** यह नहीं है। हारियोजन में सभी का **विधान किया जाता है — सर्वे भक्षयन्ति (=सब भक्षण करते हैं)। चमसियों के सम्बन्ध का विधान नहीं किया जा सकता। दो अपूर्व सम्बन्ध इस वाक्य में** विधान नहीं किये जा सकते। इस लिये अन्य ही वचन-व्यक्ति है। वह **क्या है?** यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति यह अनुवाद है। **चमसी चमसों का भक्षण करते ही है। वे भक्षण करते हुए यथाचमस (=जिस का जो है उसको) ही भक्षण करते है, पुनः इस हारियोजन का न केवल चममी ही भक्षण करते हैं, सभी करते हैं। इस प्रकार क्या होगा? सर्व शब्द सब को कहता हुआ एकदेश (= चमसी मात्र) में कल्पित नहीं होगा। और नाही दो अपूर्व सम्बन्ध एक वाक्य में विहित होंगे। इस कारण यही पक्ष ठीक है। इसी के लिये यह चमसियों की श्रुति है। हारियोजन की प्रशंसा के लिये चमसियों का कीर्तन किया है, हारियोजन की प्रशंसा के लिये। कैसे? यह हारियोजन महाभाग (= बड़े महात्म्य वाला) है, जिस कारण उस में सभी प्राप्ति की इच्छा करते हैं। अन्य चमसों की एक एक लिप्सा करता है, अतः वे महाभाग (= बड़े महात्म्य वाले) नहीं हैं, अर्थात् हारियोजन से हीन हैं।**

विवरण—द्वौ हि सम्बन्धौ अस्मिन्- अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे लिप्सन्ते वाक्य में एक 'सब का' विधान और दूसरा 'चमसियों का' विधान ॥३०॥

—:०:—

[वषट्कारस्य भक्षनिमित्तताधिकरणम् ॥१०॥]

अथ किं समाख्यैवैका भक्षकारणम् ? नेति ब्रूमः ।

वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥३१॥ (उ०)

वषट्काराच्च भक्षयेत् । वषट्कारश्च भक्षणे निमित्तम् । कथम् ? वचनात् । एवं हि श्रूयते –**वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः**[1] इति । भक्षणस्य अप्राप्तत्वान्न प्राथम्यविधानार्थ एष शब्दः । प्राथम्यविशिष्टं भक्षणमेव विदधाति इति ॥३१॥ **वषट्करणस्य भक्षनिमित्तताधिकरणम् ॥१०॥**

—:o:—

[होमाभिषवयोरपि भक्षनिमित्तताधिकरणम् ॥११॥]

होमाभिषवाभ्यां च ॥३२॥ (उ०)

व्याख्या—**क्या भक्षण में एक समाख्या (=संज्ञा) ही कारण है ? नहीं है, ऐसा कहते हैं ।**

वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वषट्कारात्) वषट्कार से भी (भक्षयेत्) भक्षण करे । अर्थात् जो वषट्कार द्वारा आहुति देता है, वह भी भक्षण करता है ।

व्याख्या—**वषट्कार भी भक्षण में निमित्त है । कैसे ? वचन से । ऐसा सुना जाता है—वषट्कर्त्तुः प्रथमः भक्षः (=वषकार करनेवाले का प्रथम भक्ष होता है) । भक्षण के अप्राप्त होने से [वसट्कार करनेवाले के] प्राथम्य विधान के लिये यह वचन नहीं है । प्राथम्य विशिष्ट भक्षण का ही विधान करता है ॥३१॥**

—:•:—

होमभिषवाभ्यां च ॥३२॥

सूत्रार्थः—(होमाभिषवाभ्याम्) होम और अभिषव करने से (च) भी भक्षण करे ।

विशेष—होमाभिषवाभ्याम्—इतरेतरयोग द्वन्द्व है । यद्यपि सोम का अभिषव पहले होता है, और पश्चात् होम होता है, तथापि **अल्पाच्तरम्** (अष्टा० २।२।३४) के नियम से होम का पूर्व निपात जानना चाहिये ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तुलनीयम्—पात्रे समवेतानां वषट्कर्त्ता पूर्वो भक्षयति । आप० श्रौत १२।२४।६॥

अपरमपि कारणं होमाभिषवौ। कथम्? **हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति**[1] इति। न तावदेष क्रमो विधीयते—होमे निर्वृत्ते ततो भक्षणमिति[2], भक्षणस्याप्राप्तत्वात्। द्वयोश्च क्रमयोर्विधानात्—अभिषुत्य हुत्वेति वाक्यम्भिद्येत। अर्थेन च प्राप्तत्वादस्य क्रमस्य। न ह्यकृते प्रयोजने कश्चित् प्रतिपादनमर्हति। न च भक्षणाङ्गभावेन होमाभिषवौ चोद्येते। अभिषवस्य होमाऽर्थत्वात्, होमस्य च फलार्थत्वात्। तस्माद् होमाभिषवयोः कर्तृणां भक्षणं विधीयते—येऽभिषुण्वन्ति जुह्वति च, ते भक्षयन्ति इति ॥३२॥ **होमाभिषवयोरपि भक्षनिमित्तताधिकरणम् ॥११॥**

—:o:—

व्याख्या—**होम और अभिषव ये अन्य कारण भी भक्षण में हैं। कैसे?** हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति (**हविर्धान के नीचे पत्थरों से सोम को कूटकर आहवनीय में होम करके वापस लौटकर सदः स्थान में भक्षों का भक्षण करते हैं**)। यहां क्रम का विधान नहीं किया जाता है—'**होम के सम्पन्न होने पर भक्षण करें', भक्षण के अप्राप्त होने से।** तथा दो के क्रमों का **विधान करने से** अभिषुत्य (=**अभिषव करके**) हुत्वा (=होम करके) ऐसा वाक्य **भेद होवे। तथा इस क्रम के अर्थतः प्राप्त होने से। प्रयोजन सिद्ध किये विना कोई पदार्थ** प्रतिपत्ति **कर्म के योग्य नहीं होता है। तथा भक्षण के अङ्ग रूप से होम और अभिषव का** विधान नहीं किया जाता है, **अभिषव के होमार्थ होने से और होम के फल के लिये** होने से। **इस कारण होम और अभिषव के कर्त्ताओं के भक्षण का विधान किया जाता है—जो अभिषव** करते है तथा जो होम करते हैं, **वे खाते हैं।।**

विवरण—हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्य—होम और अभिषव सगुण (=सानुबन्ध) वाक्यान्तरों से प्राप्त हैं, अतः उन का यहां विधान नहीं है। **न तावदेष क्रमो विधीयते**—'हुत्वा भक्षयन्ति' =होम करके भक्षण करता है, ऐसा क्रम का विधान नहीं है। दोनों के प्राप्त होने पर क्रम का विधान होता है। भक्षण यहां प्राप्त नहीं है। **द्वयोश्च क्रमयोर्विधानात्**—अभिषुत्य=अभिषव करके भक्षण करता है और **हुत्वा**=होम करके भक्षण करता है, ऐसा कहने पर वाच्य भेद होगा। **अर्थेन च प्राप्तत्वादस्य क्रमस्य**—यदि कहो कि जैसे द्वादशाह सत्र के दीक्षावाक्य में **अध्वर्युं गृहपति दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारम्** (द्र०-आप० श्रौत २१।१।१६-२०) इत्यादि के समान अभिषव और होम के क्रम का विधान है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अभिषव और होम का क्रम तो प्रयोजन वश सिद्ध है। बिना अभिषव के होम नहीं हो सकता है। इसी प्रकार होम के पश्चात् अभिषव अथवा भक्षण के पश्चात् होम सम्भव नहीं है। **प्रत्यञ्चः परेत्य**—उपर्युक्त वाक्य में 'पश्चिम में घूमकर' का विधान भी इष्ट नहीं है, क्योंकि आहवनीय में होम के पश्चात्

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—हविर्धाने चर्मन्नधि ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षयन्ति। तै० सं० ६।२।११।।

२. चौखम्बामुद्रिते 'भक्षणमिति' पाठो नोपलभ्यते।

[**वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षाधिकरणम्** ।। १२ ।।]

इदं श्रूयते—**प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणाम्**[1] इति। तत्र सन्देहः—चमसेषु होमाभिषवयोः कर्त्तारो वषट्कर्त्तारश्च किं भक्षयेयुः उत नेति ? किं प्राप्तम् ?

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ।। ३३ ।। (पू०)

न भक्षयेयुः। प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानां चमसिनः प्रति। **प्रैतु होतुश्चमस** इत्येवमादिभिर्विशेषवचनैः, होमाभिषवकारिणां सामान्यवाक्येन, यः सोमो भक्षणेन संस्कर्त्तव्यः स चमसेषु चमसिभिरिति। अथेदानीमन्यन्निमित्तं क्व भविष्यति ? अव्यक्तः सामान्यनिमित्तः क्व ?। शेषे भविष्यति, यत्र न चमसिनः ।। ३३ ।।

सदोमण्डप में जाने के लिये पश्चिम में घूमना ही होता है। '**सदसि**' अंश का भी अनुवादमात्र है। होत्रादि को होम के अनन्तर सोम को भक्षणार्थं सदःस्थान में लाना ही होगा। अतः प्रकृत वाक्य में केवल अप्राप्त भक्षण का **भक्षयन्ति** से विधान किया है। इस अवस्था में **अभिषुत्य** और **हुत्वा** का निर्देश भक्षण के समान-कर्तृकत्व के बोधन के लिये है। यही बात भाष्यकार ने **येऽभिषुण्वन्ति जुह्वति च ते भक्षयन्ति** वाक्य से कही है ।।३२।।

—:०:—

व्याख्या—यह सुना जाता है—प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणाम् (व्याख्या पूर्व पृष्ठ ९६४ पर देखें)। इस में सन्देह है—चमसों में होम और अभिषव के कर्त्ता और वषट्कार करनेवाले क्या भक्षण करें या न करें। क्या प्राप्त होता है ?

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ।।३३।।

सूत्रार्थः—(प्रत्यक्षोपदेशात्) **प्रैतु होतुश्चमसः** आदि प्रत्यक्ष कथन होने से (चमसानाम्) चमसों का भक्षण चमसी करे। (अव्यक्तः) भक्षण का अव्यक्त=सामान्य निर्देश (शेषे) शेष =जहां चमसियों का भक्षण नहीं है, वहां होगा।

व्याख्या—[**चमसों में होम और अभिषव के कर्त्ता तथा वषट्कर्त्ता**] **भक्षण न करें। चमसियों के प्रति चमसों का प्रत्यक्ष उपदेश होने से।** प्रैतु होतुश्चमसः **आदि विशेष वचनों से** [**चमसियों का**, **होम और अभिषव करनेवालों का सामान्य वाक्य से उपदेश होने से 'भक्षण के द्वारा जो सोम का संस्कार करना है, वह चमसों में चमसियों के द्वारा ही होगा। अच्छा तो अन्य [होम और अभिषव] निमित्त कहां होगा ? अव्यक्त=सामान्य-निमित्त कहां होगा ? शेष में होगा, जहां चमसियों का निर्देश नहीं है ।।३३।।**

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ९६४ टि० १।

स्याद् वा कारणभावाद् अनिर्देशश्चमसानां कर्त्तुस्तद्वचनत्वात् ॥३४॥ (उ०)

स्याद् वा चमसेषु वषट्कर्त्रादीनां भक्षः। प्राप्यते हि तेषां तत्र कारणम्। न च प्रतिषिद्धयते। ननु चमसिनां प्रत्यक्षोपदेशान्निवर्त्तेरन्? उच्यते। अनिर्देशश्चमसानां कर्त्तुः, तद्वचनत्वात्। प्रैतु होतुश्चमस इत्येवमादयः शब्दा न शक्नुवन्ति वषट्कर्त्रादीन् प्रतिषेद्धुम्। उपदेष्टारो हि ते, न प्रतिषेद्धारः। तस्माद् वषट्कर्त्रादयोऽपि चमसेषु भक्षयेयुः ॥ ३४ ॥

चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ३५ ॥ (उ०)

चमसे चान्यांश्चमसिनो दर्शयति— **चमसांश्चमसाध्वर्य्यवे प्रयच्छति। तान् स वषट्कर्त्रे**

स्याद्वा कारणभावाद् अनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्वचनत्वात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष 'चमसों में होमाभिषव कर्त्ता भक्षण न करें' की निवृत्ति के लिये है। होमाभिषव कर्त्ता का भी चमसों में भक्षण (स्यात्) होवे (**कारणभावात्**) भक्षण के वषटकार करना आदि कारण=निमित्त के विद्यमान होने से। (**अनिर्देशः चमसानाम्**) चमसों के प्रति चमसियों के भक्षण का साक्षात् निर्देश न होने से अर्थात् चमसों में चमसियों के भक्षण की समाख्या=चमसी संज्ञा के कारण प्रतीति अथवा प्राप्ति होती है, साक्षात नहीं। (**कर्तुः**) होम अभिषव तथा वषटकार के कर्त्ता का भक्षण चमसों में होता है (**तद्वचनत्वात्**) होम अभिषव तथा वषट्कार करनेवाला भक्षण करे, इस अर्थ को कहनेवाला वचन होने से।

विशेष—इस सूत्र के प्रतिपद अर्थ की स्पष्ट प्रतीति भाष्य वार्तिक तथा वृत्तियों से भी नहीं होती हैं। सब ने भावमात्र का निर्देश किया है। हमने भाष्यादि के आधार पर कथंचित् प्रतिपद अर्थ लिखने का प्रयास किया है।

व्याख्या—**चमसों में वषट्कर्त्ता आदि का भक्षण होवे ही। उन (चमसों) में उन के भक्षण का कारण प्राप्त होता ही है। प्रतिषिद्ध नहीं होता है।** (आक्षेप) **चमसियों के प्रत्यक्ष उपदेश से [वषट्कर्त्ता आदि का भक्षण]** निवर्तित होवे। (समाधान) **चमसों के भक्षण कर्त्ता का निर्देश नहीं है, तद्वचन होने से।** प्रैतु होतुश्चमसः **इत्यादि शब्द वषट्-कर्त्ता आदि के भक्षण का प्रतिषेध नहीं कर सकते। वे शब्द उपदेशक हैं, अर्थात् चमसों में चमसियों के भक्षण का कथन करने वाले हैं, प्रतिषेध करने वाले नहीं है। इस कारण वषट्कर्त्ता आदि भी चमसों में भक्षण करें** ॥३४॥

चमसे चान्यदर्शनात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(चमसे) चमस में (च) भी (**अन्यदर्शनात्**) अन्यों=चमसियों से भिन्नों **का दर्शन होने से।**

व्याख्या—चमस में चमसियों से अन्यों को दिखाता है—चमसांश्चमसाध्वर्य्यवे प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्त्रे हरति (**=चमसों को चमसाध्वर्यु को देता है, वह चमसाध्वर्यु उन को**

हरति' इति। एको हि स्वश्चमसो वषट्कर्त्रे ह्रियते, तेन बहुहरणदर्शनं नावकल्पते, यदि वषट्कर्त्रादयो न चमसेषु भक्षयेयुः। तस्माद् भक्षयन्तीति ॥ ३५ ॥ **वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षाधिकरणम्** ॥ १२ ॥

—:o:—

[होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम् ॥१३॥]

अथ यत्रैकस्मिन् पात्रे बहवो भक्षयन्ति, कस्तत्र क्रम इति ? उच्यते—

एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत्। ३६ ॥ (पू०)

तस्य हि क्रमो भक्षयितुं, यस्य हस्ते सोमः ॥ ३६ ॥

होता वा मन्त्रवर्णात् ॥ ३७ ॥ (उ०)

होता वा पूर्वो भक्षयेत्। मन्त्रवर्णात्। मन्त्रवर्णो हि तथा—होतुश्चित् पूर्वे

वषट् करनेवाले को प्राप्त कराता है)। [समाख्या=संज्ञा से] एक ही स्वचमस (=होतृचमस) वषट्कर्त्ता को प्राप्त कराया जाता है। इस से बहुतों का हरण-दर्शन (=तान्) उपपन्न नहीं होता है, यदि वषट्कर्त्ता आदि चमसों में भक्षण न करें। इससे [चमस में वषट्कर्त्ता आदि] भक्षण करते हैं ॥ ३५ ॥

—:o:—

व्याख्या—अच्छा तो जिस एक पात्र में बहुत ऋत्विक् सोम का भक्षण करते हैं, वहां क्या क्रम है ? कहते हैं—

एकपात्रे क्रमाद् अध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(एकपात्रे) एकपात्र में सोम के भक्षण में (अध्वर्युः) अध्वर्यु (पूर्वः) प्रथम (भक्षयेत्) भक्षण करें। (क्रमात्) क्रम से=होम के समय अध्वर्यु के हाथ में सोम का पात्र होने से ॥३६॥

व्याख्या—उसी का सोम भक्षण का क्रम है, जिस के हाथ में सोम है।

होता वा मन्त्रवर्णात् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' पूर्व पक्ष 'अध्वर्यु प्रथम सोम का भक्षण करे' इस की निवृत्ति के लिये है। (मन्त्रवर्णात्) मन्त्र में वर्णन होने से।

व्याख्या—अथवा होता पहले भक्षण करे। मन्त्र में वर्णन होने से। जैसा कि मन्त्रवर्ण है—होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत (=हे ग्रावाओ ! तुम होता से भी पूर्व खाने योग्य हवि को

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

हविरप्रभाक्षत'[1] इति। तथा—होतेव नः प्रथमः पाहि[2] इति ॥ ३७ ॥

वचनाच्च ॥ ३८ ॥ (उ०)

वचनमिदं भवति—वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः[3] इति। वचनमेवेदम्। न मन्तव्यम् अनेकगुणविधानादविवक्षितं प्राथम्यमिति। अप्राप्तत्वात् प्राथम्यस्य, नायमनुवादः। विधिरेव। समासेन च विदधतो नानेकगुणविधानं दुष्करम्॥ ३८ ॥

कारणानुपूर्व्याच्च ॥ ३९ ॥ (उ०)

भक्षण करो) तथा होतेव नः प्रथमः पाहि (=हे वायो! तुम होता के समान पहले मधु=सोम का भक्षण करो)। [इन मन्त्रों में होता के प्रथम सोम भक्षण का वर्णन है।]

विवरण—मन्त्र-निर्दिष्ट कथन वा वर्णन 'मन्त्रवर्ण' शब्द से कहा जाता है, और ब्राह्मण ग्रन्थस्थ कथन वा वर्णन ब्राह्मणवाद कहाता है। निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थों में मन्त्रवर्ण और ब्राह्मणवाद शब्दों का ही सर्वत्र प्रयोग उपलब्ध होता है। इसी प्रकार यदि सभा आदि में वेद का उपदेश किया जायेगा, तो वह वेद-प्रवचन शब्द से ही व्यवहृत होगा है 'कथा' शब्द का प्रयोग इतिहास पुराण के उपदेश के लिये ही होता है—रामायण-कथा, महाभारत-कथा, पुराण-कथा। इससे विपरीत वेद-कथा तथा रामायण-प्रवचन प्रयोग असाधु जानने चाहिये पाहि—यह 'पा पाने' का रूप है, पा रक्षणे का नहीं ॥३७॥

वचनाच्च ॥३८॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) वषकर्तुः प्रथमभक्षः इस वचन से (च) भी वषट्कर्त्ता होता का प्रथम भक्ष होता है।

व्याख्या—यह वचन होता है—वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः (=वषट्कर्त्ता='वौषट्' ऐसा बोलने वाले होता का प्रथम भक्ष=भक्षण होता है। यह वचनमात्र है। ऐसा नहीं मानना चाहिये कि अनेक गुणों के विधान के कारण प्राथम्य अविवक्षित है। प्राथम्य की किसी से प्राप्ति न होने से यह अनुवाद भी नहीं है, विधि ही है। समास=एक साथ विधान करनेहारे वाक्य का अनेक गुणों का विधान दुष्कर नहीं है ॥ ३८ ॥

विवरण—तुलना करो पात्रे समवेतानां वषट्कर्त्ता पूर्वो भक्षणयति(आप० श्रौत १२।२४।६) तथा इस सूत्र की रुद्रदत्तीय व्याख्या। चमसों के भक्षण के विषय में आप० श्रौत १२।२५।१६-२३ द्र० हैं ॥३८॥

कारणानुपूर्व्याच्च ॥३९॥

सूत्रार्थः—(कारणानुपूर्व्यात्) कारण की आनुपूर्वी से (च) भी होता प्रथम भक्षण करता है।

---

१. ऋ० १०।९४।२॥ २. ऋ० ५।४३।३॥

३. अनुपलब्धमूलम्।

प्रथमं हि वषट्करणं निमित्तं होतुः। ततो होमोऽध्वर्योर्निमित्तम्। निमित्तानुपूर्व्याच्च नैमित्तिकानुपूर्व्ये क्रमानुरोधः ॥ ३९ ॥ होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम् ॥ १३ ॥

—:०:—

[भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम् ॥१४॥]

अथ य एकपात्रे सोमोऽनेकेन भक्ष्यते, किं तत्रानुज्ञाप्य अननुज्ञाप्य वा भक्षयितव्यम्, उत अनुज्ञाप्यैवेति ? लाघवादनियमे प्राप्ते उच्यते—

वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥ ४० ॥ (उ०)

अनुज्ञाप्य भक्षयितव्यमिति। कस्मात् ? वचनात्। इदं वचनं भवति—**तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पेयः**[1] इति। उपह्वानं चानुज्ञापनम्। प्राप्तिसूत्रमेतत् ॥ ४० ॥ **भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम् ॥ १४ ॥**

—:०:—

विशेष—भक्षण के निमित्त हैं—वषट्कार और होम। इन में वषट्कार होता करता है, और होम अध्वर्यु। पहले होता वषट्कार करता है, तब अध्वर्यु होम करता है। इस क्रम से होता के भक्षण का निमित्त पहले उपस्थित होता है।

व्याख्या **वषट्करण पहला निमित्त है होता का। तत्पश्चात् होम अध्वर्यु का निमित्त है। निमित्त की आनुपूर्वी से नैमित्तिक कार्य के आनुपूर्व्य में क्रम का अनुरोध होता है ॥३९॥**

—:०:—

व्याख्या—**एक पात्र में जो अनेकों से सोम भक्षित किया जाता है, उस में क्या अनुज्ञापन करके अथवा विना अनुज्ञापन के ही भक्षण करना चाहिये, अथवा अनुज्ञापन कर के ही भक्षण करना चाहिये। लाघव से अनियम प्राप्त होने पर कहते हैं—**

वचनाद् अनुज्ञातभक्षणम् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) **तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पेयः**=इसलिये विना अनुज्ञापन किये सोम नहीं पीना चाहिये, इस वचन से अनुज्ञात का ही भक्षण होता है।

व्याख्या—**अनुज्ञापन करके ही भक्षण करना चाहिये। किस हेतु से ? वचन से। यह वचन होता है**—तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पेयः (=**इस लिये सोम को उपह्वान=अनुज्ञापन के विना नहीं पीना चाहिये**)। **उपह्वान ही अनुज्ञापन है। यह प्राप्ति को दर्शाने वाला सूत्र है ॥ ४० ॥**

—:०:—

---

१. **अनुपलब्धमूलम्। द्र०**—तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पातवै। **काठक सं० ११।१॥ नानुपहूतेन सोमः पातवै। आप० श्रौत १२।२४।१४॥**

[वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम् ॥ १५ ॥]

अथानुज्ञातेन भक्षयितव्यमिति स्थिते, किं लौकिकेन वचनेनानुज्ञापयितव्यम्, उत वैदिकेनेति। अनियमाल्लौकिकेनेति प्राप्ते उच्यते—

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात् ॥ ४१ ॥ (उ०)

अनुज्ञापनलिङ्गोऽयं[1] मन्त्रः। लिङ्गात्। अनुज्ञापने समाम्नातः, सामर्थ्याद् विनियुज्यते। तत्र कृतेऽर्थे लौकिको निवर्त्तते ॥४१॥ **वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम् ॥१५॥**

—:०:—

[वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम् ॥ १६ ॥]

एतदवगतं, तदुपहूत उपह्वयस्व[2] इत्यनेनानुज्ञापयेदिति। अथ प्रतिवचने संदेहः—किं लौकिकं प्रतिवचनमुत एतदेवेति ? किं प्राप्तम् ? एतद् वैदिकं प्रश्ने विनियुक्तम्। लौकिकमन्यत् प्रतिवचनं भवितुमर्हति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

व्याख्या—अनुज्ञात (=अनुज्ञाप्राप्त) होने पर सोम का भक्षण करना चाहिये ऐसा सिद्धान्त होने पर क्या लौकिक वचन से अनुज्ञापन करना चाहिये अथवा वैदिक वचन से ? अनियम होने से लौकिक से अनुज्ञापन करे। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(तदुपहूत उपह्वयस्व) तदुपहूत उपह्वयस्व (इत्यनेन) इस अनुज्ञापन मन्त्र से (अनुज्ञापयेत्) अनुज्ञापन करे (लिङ्गात्) लिङ्ग से।

व्याख्या यह अनुज्ञापन लिङ्ग वाला मन्त्र है। लिङ्ग से अनुज्ञापन में पठित हैं, सामर्थ्य से [अनुज्ञापन में] विनियुक्त किया जाता हैं। वहां [अनुज्ञापनरूप] प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर [अनुज्ञापन-समर्थ] लौकिक पद की निवृत्ति हो जाती है ॥ ४१ ॥

विवरण—अनुज्ञापनलिङ्गोऽयं मन्त्रः=यहां 'अयम्' पद से सूत्र पठित **उपहूत उपह्वयस्व** (शत० २।४।४।२५) मन्त्र की ओर संकेत है।

—:०:—

व्याख्या—यह जाना गया कि तदुपहूत उपह्वयस्व इस मन्त्र से अनुज्ञापन करे। अब प्रतिवचन में सन्देह है—क्या लौकिक प्रतिवचन होवे अथवा यही (= उपहूतः) । क्या प्राप्त होता है ? यह वैदिक वचन प्रश्न में विनियुक्त है, प्रतिवचन अन्य लौकिक हो सकता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. सूत्रपठितः— उपहूत उपह्वयस्व। शत० २।४।४।२५॥
२. द्र०— शत० २।४।४।२५॥

तत्रार्थात् प्रतिवचनम् ॥ ४२ ॥ (उ०)

तत्रैतदेव प्रतिवचनमिति। ननु प्रश्नलिङ्गमेतद् उपह्वयस्वेति। उच्यते। यदस्य पूर्वमुपहूत इति प्रतिवचनस्य समर्थम्, तत् प्रतिवचनकार्ये भविष्यति। आह। विपरीतमेतत् समाम्नानम्। पूर्वं हि प्रश्नेन[1] भवितव्यं, ततः प्रतिवचनेन। उच्यते। अर्थात् पूर्वं प्रतिवचनकार्ये भविष्यति। अर्थो हि क्रमाद् बलीयानिति ॥ ४२ ॥ **वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम् ॥ १६ ॥**

—:o:—

[एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम् ॥१७॥]

इदं सन्दिह्यते। किं यः कश्चिद् अनुज्ञापयितव्यः? उत समानपात्र इति? अविशेषाभिधानाद् यः कश्चिद् इति प्राप्ते उच्यते—

तदेकपात्राणां समवायात् ॥ ४३ ॥ (उ०)

तत्रार्थात् प्रतिवचनम् ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थः—(तत्र) वहां अनुज्ञापन में (अर्थात्) अर्थ सामर्थ्य से ['उपहूतः' यह] (प्रतिवचनम्) प्रतिवचन होता है।

व्याख्या—वहां यही प्रतिवचन है। (आक्षेप) 'उपह्वयस्व' यह प्रश्न लिङ्गवाला है। (समाधान) इस का जो पूर्व भाग 'उपहूतः' यह प्रतिवचन में समर्थ है। वह प्रतिवचन कार्य में विनियुक्त हो जायेगा। (आक्षेप) यह पाठ विपरीत है। पहले प्रश्न को होना चाहिये, तदनन्तर प्रतिवचन (=उत्तर) को। (समाधान) अर्थ से पूर्व पद प्रतिवचन कार्य में विनियुक्त होगा। क्रम से अर्थ बलवान् होता है।

विवरण—अर्थात् पूर्वम्—द्र०—उपहूत इति प्रतिवचनः। आप०श्रौत १२।२४।१५॥ ४२॥

—:o:—

व्याख्या—यह संदेह होता है—क्या जिस किसी ऋत्विक् को अनुज्ञापन करना चाहिये अथवा समानपात्र (=एक पात्र) में [भक्षण करने वालों]का? विशेष का कथन न होने से जिस किसी को अनुज्ञापन करे, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तदेकपात्राणां समवायात् ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थः—(तत्) वह अनुज्ञापन (एकपात्राणाम्) समान पात्र वालों का करना चाहिये (समवायात्) अनेकों के एक पात्र में समवेत=इकट्ठा होने से।

---

1. चौखम्बा मुद्रिते 'प्रश्ने' इत्यपपाठः।

तत् खल्वनुज्ञापनमेकपात्राणां स्यात् । कुतः ? अनुज्ञापनमिहाङ्गम् । अनुज्ञापनस्य चैतद् रूपम्—यत्रान्येन कर्त्तव्यमन्यश्चिकीर्षेत्, सोऽनुमन्यस्वेति ब्रूते । सहभोजनादि वा आचरितुकामश्चित्तमन्यस्यानुकूलयति । तदेतद् नाना पात्रेषु नैव सम्भवति । न हि तत्रान्येन कर्त्तव्यम्, अन्यो वा चिकीर्षतीति । सहभोजनादौ वा पदार्थे सम्मानयति । एकपात्रे तु सोमे साधारणे संस्कर्तव्ये न्यायेन समो विभागः प्राप्नोति । तत्राविभज्य पीयमाने कदाचिदन्येन पातव्यमन्यः पिबेत् । तत्रानुज्ञापनं सम्भवति—त्वया अर्द्धं पातव्यं, मया अर्द्धम् । कदाचिदहमभ्यधिकं न्यूनं वा पिबेयं, तदनुज्ञातुमर्हसीति । एकपात्रे वा पानं त्वया सहाचरन्नहं तव चित्तप्रसादनं व्याहन्यामिति सम्भवत्यनुज्ञापना । तस्मादेकपात्रेष्वेवैतत् स्यादिति ॥ ४३ ॥ एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम् ॥ १७ ॥

—:o:—

[स्वयं यष्टुर्यजमानस्य भक्षास्तिताधिकरणम् ॥ १८ ॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः । तत्र ऋतुयागेषु[1] श्रूयते—यजमानस्य याज्या सोऽभिप्रेष्यति होत-

---

व्याख्या—वह अनुज्ञापन एक पात्र वालों का होवे । किस हेतु से ? अनुज्ञापन यहां (=भक्षण में) अङ्गभूत है । अनुज्ञापन का यह स्वरूप है—जहां अन्य के कर्तव्य को अन्य करना चाहे वह अनुमन्यस्व (=अनुज्ञा दो) ऐसा कहता है । सहभोजन आदि का आचरण करने की इच्छा वाला अन्य [साथी] के चित्त को [अनुज्ञापन से] अनुकूल करता है । यह कार्य नाना पात्रों में भक्षण करने वालों में सम्भव नहीं है । क्योंकि वहां (=नाना पात्रों में) अन्य के [भक्षणरूप] कर्तव्य को अन्य नहीं करना चाहता है । सहभोजन आदि पदार्थ में [दूसरे को] सम्मानित करता है । एक पात्र वाले साधारण (=सामान्य) संस्कार करने योग्य सोम में तो न्याय से समान विभाग प्राप्त होता है । वहां (=उस सोम को) विना विभाग किये पान करने में कभी अन्य के पान करने योग्य भाग को अन्य पी जावे । ऐसी स्थिति में अनुज्ञापन सम्भव होता है—आधा तुम्हें पीना चाहिये और आधा मुझे । मैं कदाचित् [भूल से] अधिक वा न्यून पी जाऊं तो उसकी आप अनुज्ञा दे सकते हैं । अथवा एक पात्र में आप के साथ पान करता हुआ आप के चित्त की प्रसन्नता को नष्ट कर सकता हूं, इसलिये अनुज्ञापन सम्भव होता है । इसलिये यह अनुज्ञापन एक पात्र वालों में ही होवे ।

विवरण=इस विषय में आप० श्रौत० १२।२४।१७ ये वैकपात्रम् सूत्र तथा उस की टीका द्रष्टव्य है ।

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम क्रतु है । उस में ऋतुयागों में सुना जाता है यजमानस्य याज्या

---

१. द्र०—ऋतुग्रहैश्चरतः । कात्या० श्रौत ९।१३।१-१९।। आप० श्रौत १२।२६।११-१२।२७।१३।।

रेतद् यज'[1] इति, स्वयं वा निषद्य यजति'[2] इति । यदा स्वयं यजति, तदा सन्देहः—किमस्य भक्षोऽस्ति, नास्तीति । तदुच्यते—

याज्यापनये नापनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥ ४४ ॥ (पू०)

याज्यायामपनीयमानायां नापनीयेत भक्षणम् । होतुरेव तु भक्षणं स्याद्, न यजमानस्येति । कुतः ? अन्या हि याज्या, अन्यद् भक्षणम् । न चान्यस्मिन्नपनीयमानेऽन्यदपनीयते । यथा तस्यामेव याज्यायामपनीयमानायां प्रवरो नापनीयते, तद्वदेतदपीति ॥ ननु याज्याया अधि वषट् करोति'[3] इति । यत्र याज्या तत्र वषट्कारः, यत्र वषट्कारस्तत्र भक्षणमषीति । नेत्युच्यते । न तावद् याज्यायामवयवभूतो वषट्कारः, येन याज्याग्रहणेनाऽसौ

सोऽभिप्रेष्यति होतरेतद् यजेति स्वयं वा निषद्य यजति (=यह यजमान की याज्या है । उस के विषय में यजमान होता को प्रैष देता है 'हे होतः [इस को पढ़ कर] यजन करो' अथवा स्वयं यजमान बैठ कर [याज्या को पढ़ कर] यजन करता है) । जब यजमान स्वयं याग करता है तब सन्देह होता है—क्या इस यजमान का भक्षण है अथवा नहीं है । इस विषय में कहते हैं—

याज्यापनये नापनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थः—(याज्यापनये) होता से याज्या का अपनय=संबन्ध विच्छेद होने पर (भक्षः) होता का भक्षण (नापनीतः) अपनीत=दूर नहीं होता है, होता ही भक्षण करता है । (प्रवरवत्[4]) जैसे होता का प्रवरण अपनीत नहीं होता है ।

व्याख्या—[होता से] याज्या के अपनय होने पर भी [उस का] भक्षण अपनीत नहीं होगा । होता का ही भक्षण होगा यजमान का नहीं होगा । किस हेतु से ? याज्या [का उच्चारण] अन्य कर्म है, भक्षण अन्य है अर्थात् याज्या के साथ भक्षण संबद्ध नहीं है । अन्य के अपनीत हो जाने पर अन्य का अपनय नहीं होता है । जैसे उसी याज्या का अपनय हो जाने पर [होता का] प्रवरण (=वरण करना) अपनीत नहीं होता है । उसी प्रकार यह भक्षण भी अपनीत नहीं होगा । (आक्षेप) याज्याया अधिवषट् करोति (=याज्या के उत्तर=अन्त में वषट्कार करता है) इस से जहां याज्या है, वहीं वषट्कार भी है । [अर्थात् याज्या का यजमान के द्वारा पाठ होने पर वषट्कार भी यजमान ही करेगा] । जहां वषट्कार होता है, वहीं भक्षण होता है । [अर्थात् जो वषट् करता है, वही भक्षण भी करता है,] । (समाधान) ऐसा नहीं है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यजमानः प्रेषितो होतरेतद् यज । कात्या० श्रौत ९।१३।१६॥ 'गृहपते यज' इत्येवं प्रशास्त्रा प्रेषितो यजमानो होतरेतद् यजेति ब्रूयात् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । ३. आप० श्रौत २४।१४।३॥

४. यहां प्रवर शब्द से प्रवर-वरण कर्म अभिप्रेत नहीं है, अपितु होता का वरण अभिप्रेत है ।

गृह्य त'। यत्तु तस्या अधि वषट् करोति,' अन्येनापि प्रयुज्यमानाया उपरि होता वषट् करिष्यति। याज्यापनयो हि वचनात्, न वषट्कारापनयः। यावद्वचनं, वाचनिकं भवत्येव। वचनं हि तद्विषयमेव ॥४४॥

यष्टुर्वा कारणागमात् ॥ ४५ ॥ (उ०)

यष्टुर्वा भक्षः स्यात्। कुतः ? कारणागमात्। भक्षस्य कारणं वषट्कारः। स च याज्यायामागच्छन्त्यामागच्छति। एवं हि श्रूयते—याज्याया अधि वषट् करोति' इति। नन्वेतदुक्तं, यजमानेनापि प्रयुज्यमानायां होता अधि वषट् करोतीति। नैष समाधिः। अनवानता यष्टव्यम्, वषट्कारेण यागः क्रियते, न याज्यामात्रेण। तस्माद् आ वषट्काराद् न अवानितव्यं यजमानेन। अन्यश्चेद् वषट् कुर्याद् अवान्याद् याजमानः, न च यजेत।

वषट्कार याज्या में अवयव रूप नहीं है, जिस से याज्या के ग्रहण से यह (=वषट्कार) भी गृहीत होवे। और जो तस्य अधि वषट् करोति (=याज्या के अन्त में वषट् करता है) वह अन्य से प्रयुज्यमान याज्या के अन्त में होता वषट् करेगा। याज्या का [होता से] अपनय वचन से होता है, वषट्कार का अपनय नहीं होता है। जितना वचन होता है उतना वचन से कहा कार्य होता ही है। वचन उस (=याज्या) विषय वाला ही है।

यष्टुर्वा कारणागमात् ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व 'होता से भक्षण का अपनय नहीं होगा' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (यष्टुः) यजन करने वाले यजमान का भक्षण होता है (कारणागमात्) कारण=भक्ष कारण के आगम=प्राप्त होने से। अर्थात् जब यजमान यजन करता है तो वषट्कार का उच्चारण भी वही करता है। अतः वषट् करनेवाले को प्राप्त होनेवाला भक्षण यजमान को ही प्राप्त होगा।

व्याख्या—यष्टा का भक्षण होवे। किस हेतु से ? कारण की प्राप्ति होने से। भक्षण का कारण वषट्कार है। वह (=वषट्कार) याज्या के आने (=यजमान को प्राप्त होने) पर [यजमान को] प्राप्त होता है। ऐसा सुना जाता है—याज्याया अधि वषट् करोति (=याज्या के अन्त में वषट् करता है)। (आक्षेप) यह जो कहा था कि यजमान के द्वारा भी याज्या के प्रयुज्यमान होने पर होता याज्या के अन्त में वषट् करता है। (समाधान) यह समाधान नहीं है। अनवानता यष्टव्यम् (=बिना श्वास लिये यजन करना चाहिये) याग वषट्कार से किया जाता है, याज्या मात्र से याग नहीं किया जाता है। इस कारण वषट्कार पर्यन्त यजमान को श्वास नहीं लेना चाहिये। यदि अन्य वषट् करे तो यजमान [याज्या के अन्त में] श्वास

---

१. चौखम्बामुद्रिते 'येन याज्याऽग्रहणेनाऽसौ न गृह्येत' इत्यपपाठः।

२. आप० श्रौत २४।१४।३॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—अनवानं यजति। शाङ्खा० श्रौत ३।८।२१॥

ष्टव्ये चासौ चोद्यते, न याज्यामात्रवचने। स्वयं निषद्य यजति[1] इति साङ्गस्य निषद्ययागे विधानात् ॥ ४५ ॥

अथ यदुक्तं यथा प्रवरो नापनीयते, एवं भक्षोऽपीति। उच्यते—

प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपायः ॥ ४६ ॥ (उ०)

अशक्यत्वात् प्रवरो नापनीयते। अतिक्रान्तो हि स कथमपनीयेत होतुः। भ्रष्टे चावसरे, अनुष्ठीयमानो यजमानस्य विगुणः स्यात्। न च विगुणः कथञ्चिदर्थं साधयेत्। नात्र चोदकेन प्राप्नोति। अथोच्येत, यच्छक्यं तच्चोदकेन प्रापितं, यद् न शक्यं न तत् प्रापितमिति। प्रकृतिरियम्। अपूर्वस्यात्र विधानं यादृशमुक्तं तादृशं यदि शक्यते, कर्त्तव्यम्। यदि न शक्यते, यत्रैव शक्यते तत्रैव कार्यम्। न यत्र विगुणमिति। तस्मात् प्रवरस्यानपायो युक्तो, न भक्षस्येति ॥४६॥ **स्वयंयष्टुर्यजमानस्य भक्षास्तिताधिकरणम् ॥१८॥**

लेना और याग भी न करेगा। यजन योग्य कर्म में यह (=श्वास न लेना) कहा है, केवल याज्या मात्र के उच्चारण में विहित नहीं है। स्वयं निषद्य यजति (=स्वयं बैठ कर यजन करता है) से साङ्ग कर्म का बैठकर याग में विधान करने से ॥ ४५ ॥

व्याख्या—जो यह कहा कि जैसे [होता का] वरण अपनीत नहीं होता है, इसी प्रकार प्रकार होता के भक्षण का भी अपनय नहीं होगा। इस विषय में कहते है—

प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपायः ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थः—(प्रवरस्य) वरण के (प्रवृत्तत्वात्) प्रवृत्त हो जाने से अर्थात् होता का वरण पहले हो जाने से उसका (अनपायः) अपनय नहीं होता।

व्याख्या—अशक्य होने से [होता के] वरण का अपनय नहीं होता है। वह वरण हो चुका है, वह भला होता से कैसे हट सकता है। अवसर बीत जाने पर यजमान का अनुष्ठीयमान कर्म विगुण (=गुणरहित) हो जायेगा। और विगुण कर्म किसी भी प्रकार प्रयोजन को सिद्ध नहीं करेगा। यहां (=ज्योतिष्टोम में) चोदक (=अतिदेश) वचन से [वरण] प्राप्त नहीं होता है। यदि यह कहो कि जो चोदक वचन से प्राप्त कराना सम्भव था वह प्राप्त करा दिया और जो सम्भव नहीं था वह प्राप्त नहीं कराया। यह (=ज्योतिष्टोम) प्रकृति है। यहां सब कर्मों का अपूर्व विधान है। इसलिये जैसा कहा हैं वैसा कर्म यदि किया जा सकता है, तो करना चाहिये। और यदि नहीं किया जा सकता है तो जहां किया जा सकता है, वहां करना चाहिये। वहां नहीं करना चाहिये जहां कर्म विगुण होवे। इस कारण वरण का अनपाय (=न हटना) युक्त है, भक्ष का अनपाय युक्त नहीं है।

विवरण—अतिक्रान्तो हि सः—होता का वरण तो कर्म के आरम्भ में किया जा चुका है। वह कैसे अपनीत हो सकता है? **भ्रष्टे चावसरे अनुष्ठीयमानः**—इसका तात्पर्य यह है कि होता

---

1. अनुपलब्धमूलम्।

[फलचमसस्य इज्याविकारताधिकरणम् ॥ १६ ॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत् स यदि सोमं बिभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्'** इति । तत्र सन्देहः—किं फलचमसो भक्षविकारः, उत इज्याविकार इति ? किं फलचमसं भक्षयेदित्यर्थः, उत फलचमसेन यजेतेति ? किं प्राप्तम् ?

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥ ४७ ।

का वरण पहले न करके इस समय करेंगे, उसका यजमान द्वारा याग होने पर अपनय हो जायेगा अर्थात् होता का वरण नहीं होगा । उस का उत्तर दिया है—**अयथास्थान में कार्य करने पर कर्म विगुण हो जायेगा । नात्र चोदकवचनेन प्राप्नोति**—इस का भाव तह है कि जैसे विकृति यागों में **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** नियम से होतृवरण प्राप्त होता है तद्वत् यहां प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है । **अथोच्येत**—आक्षेप्ता सिद्धान्ती के 'नात्र चोदकेन प्राप्नोति' वचन का अभिप्राय न समझ कर कहता है—**यच्छक्यं तच्चोदकेन प्रापितम्** इत्यादि । सिद्धान्ती आक्षेप्ता का उत्तर देता है—**प्रकृतिरियम् । यदि न शक्यते यत्रैव शक्यते तत्र कार्यम्**—इस कथन का तात्पर्य यह हैं कि प्रकृति यागों में जिस कर्म का जहां विधान किया है, वहां यदि वह नहीं किया जा सकता है तो जहां किया जा सके वहां करना चाहिये—**पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्** (=पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है, परन्तु जहां करने से कर्म विगुण होता हो वहां नहीं करना चाहिये । यदि प्रकृत स्थान में होता का वरण करेंगे तो पूर्व होतृकर्म होता कैसे करेगा ?

व्याख्या – **ज्योतिष्टोम में सुना जाता है**—स यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं बिभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम् (=**वह यदि क्षत्रिय वा वैश्य को यजन करावे और वह क्षत्रिय वा वैश्य सोम का भक्षण करना चाहे तो न्यग्रोध की कलियां लाकर उन्हें दहि में पीस कर और मिला कर उसके लिये उस भक्ष को देवे, सोम को न देवे**) । **इस में सन्देह होता है—क्या फलचमल (—न्यग्रोध कलियोंवाला चमस) भक्ष (=सोमभक्ष) का विकार है अथवा इज्या (=याग) का विकार है ? क्या फलचमस का भक्षण करे, यह अर्थ है अथवा फलचमस से यजन करे ? क्या प्राप्त होता हैं ?**

विवरण –किं फलचमसा भक्षविकारः—इस विचार का प्रयोजन यह है कि यदि फलचमस सोमभक्ष का ही विकार होवे तो याग सोम से ही होगा, केवल क्षयिय और वैश्य को सोम के स्थान में दही में पिसी हुई न्यग्रोध स्तिभियां भक्षण के लिये दी जायेंगी । यदि याग का विकार हो तो याग सोम के स्थान में न्यग्रोधस्तिभियों से होगा ।

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थः—(**नैमित्तिकः**) निमित्त से प्राप्त हुआ (**फलचमसः**) **फलवाला चमस (भक्ष-**

---

१. द्र०— पूर्व पृ० ६६६, टि० १ ।

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः। भक्षणेन हि श्रुतेन एकवाक्यता भवतीति। तमस्मै भक्षं प्रयच्छेदिति, न तेन यजेतेति शब्दोऽस्ति। तस्माद् भक्षविकारः ॥४७॥

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४८ ॥

इज्याविकारो वा फलचमसः। फलचमसेन यजेतेत्यर्थः। कथम्? यदेतद् भक्षणम् एतत् सोमसंस्कारार्थम् फलचमसस्यापि यदि भक्षणं फलचमससंस्कारार्थम्, फलचमसस्यान्यत्रानुपयोगादनर्थकम्। अथ भक्षणं प्रधानम्, तथा 'न सोमम्' इत्यनुवादो नावकल्पते। यदि त्विज्याविकारो भवेत्, ततः फलचमससंस्कारोऽवकल्पते। तस्मादिज्याविकारः ॥

आह। कथं यजिसम्बन्धेऽसति इज्याविकारो भविष्यतीति? उच्यते। अस्ति यजिसम्बन्धः। कथमिति? **यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेद् न्यग्रोधस्तिभीः सम्पिष्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेद्**, याजयितुमिति गम्यते। भक्षसम्बन्धे हि न पूर्वमुत्तरेण सम्बध्यते। यदि सोमं

विकारः) सोमभक्षण का विकार है (श्रुतिसंयोगात्) **तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्** में भक्षण के साथ ही श्रुति से संयोग होने से।

व्याख्या—**नैमित्तिक फलचमस भक्ष का विचार है। श्रुत भक्षण के साथ ही एक वाक्यता होती है**—तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्। **'उस से यजन करे' ऐसा शब्द नहीं है। इस कारण भक्ष का विकार है।**

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष भक्षविकार की निवृत्ति के लिये है। (इज्याविकारः) याग का विकार है (संस्कारस्य) संस्कार के (तदर्थत्वात्) इज्या के लिये होने से।

व्याख्या—**फलचमस इज्या का विकार है। फलचमस से यजन करें, यह अर्थ है। कैसे? जो यह [फलचमस का] भक्षण है, वह सोम के संस्कार के लिये है। फलचमस का भी यदि भक्षण होता है तो वह फलचमस के संस्कारार्थ है, फलचमस के अन्यत्र उपयोग न होने से [वह संस्कार] अनर्थक होवे। और यदि भक्षण प्रधान है, तो** 'न सोमम्' **[=सोम भक्षण के लिये न देवे) यह अनुवाद उपपन्न नहीं होता है। यदि इज्या (=याग) का विकार [फलचमस] होवे तो फलचमस का संस्कार उपपन्न होता है। इस कारण इज्या का विकार है।**

आक्षेप **'यज' धातु का सम्बन्ध न होने पर इज्या का विकार कैसे होगा? (समाधान) 'यज' धातु का सम्बन्ध है। कैसे?** यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत् न्यग्रोधस्तिभीः सम्पिष्य तस्मै भक्षं प्रयच्छेत् **(=यदि क्षत्रिय वा वैश्य को यजन कराये तो न्यग्रोध की कलियां पीसकर उसके लिये यह भक्ष देवे) यहां** 'याजयितुम्' **(=यजन कराने के लिये) ऐसा अभिप्राय जाना जाता है। भक्ष का सम्बन्ध होने पर पूर्व (याजयेत्) उत्तर (=प्रयच्छेत्) के साथ सम्बन्द्ध नहीं**

भक्षणेन संस्कर्तुमिच्छेन्न्यग्रोधस्तिभीः संस्कुर्यादिति। तस्मान्न भक्षणसम्बन्धः। यागो हि प्रकृतोऽस्ति, तेन सह सम्भन्त्स्यते, न दोषो भविष्यति॥

ननु **तमस्मै भक्षं प्रयच्छेद्** इति वचनाद् भक्षसाधनमिति गम्यते, न यागसाधनमिति, भक्षशब्दानन्तर्यात्। उच्यते। श्रूयमाणे सम्बन्धे अनर्थकमिति कृत्वा प्रकृतसम्बन्ध इत्युच्यते। कथं तु भक्षसम्बन्ध इति? यद्धि यागद्रव्यं भक्षयितव्यं तच्चोदकेन भवति, तस्माद् भक्षसम्बन्धं लभते, भक्षसम्बन्धेन च यागसम्बन्ध एव लक्ष्यते। यदि तेनेज्यते, ततः स भक्षो भवति। तस्माद् भक्षवचनात् सुतरां तेनेज्यते इति गम्यते। सैषा व्यवधारणकल्पना—तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्, तमस्मै भक्षं कुर्यादित्यर्थः। यथा स भक्षो भवति, तथा कुर्यादिति। यदि च तेनेज्यते, ततोऽयं भक्षो भवति। तस्मात् तेन यष्टव्यमिति॥ ४८॥

होता है। यदि सोम को भक्षण से संस्कृत करना चाहे, तो न्यग्रोध की कलियों को संस्कृत करे। इस लिये भक्षण का सम्बन्ध नहीं है। याग ही प्रकृत है, उस के साथ सम्बद्ध होगा, इस में कोई दोष नहीं होगा।

(आक्षेप) तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् (=उस के लिये उस भक्ष को देवे) इस वचन से [फलचमस] भक्ष का साधन जाना जाता है, याग का साधन नहीं जाना जाता है भक्ष शब्द की समीपता से। (समाधान) श्रूयमाण (=भक्ष) के सम्बन्ध में अनर्थक होता है, इस लिये प्रकृत (=याग) का सम्बन्ध होता है, ऐसा कहते हैं। तो फिर भक्ष का सम्बन्ध कैसे है? जो याग का द्रव्य है उसे खाना चाहिये, यह चोदक वचन से जाना जाता है। इस कारण [फलचमस] भक्षण के संबन्ध को प्राप्त करता है। भक्षण के सम्बन्ध से याग का सम्बन्ध ही लक्षित होता है— यदि उस [फलचमस] से यजन किया जाता है तो वह भक्ष होता है। इस कारण भक्ष के सम्बन्ध से अवश्य ही उस [फलचमस] से यजन किया जाता है। वह यह व्यवधारण की कल्पना है—'उस के लिये उस भक्ष को देवे=उसके लिये उस भक्ष को करे' यह अर्थ है अर्थात जैसे वह [फलचमस] भक्ष बनता है। वैसा करे। यदि उस [फलचमस] से यजन करते हैं, तब वह भक्ष बनता है। इस कारण उस [फलचमस] से यजन करना चाहिये।

विवरण—सैषा व्यवधारण कल्पना—भट्टकुमारिल ने मी० २।१।३३ के वार्तिक में इस का अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है—यत्र अन्यथाऽर्थः प्रतिभातः (?, प्रतिभाति) पौर्वापर्यालोचनेन व्यवधार्य अन्यथा कल्प्यते सा व्यवधारणकल्पना। अर्थात् जहां अर्थ अन्यथा प्रतीत होता है, उसे पूर्वापर के आलोचन (=विचार) से निश्चय करके अन्यथा कल्पित किया जाता है वह व्यवधारण कल्पना कहाती है। जैसे— यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् में प्रतीयमान अर्थ 'प्रतिग्रह करे' को प्रतिग्राहयेत='प्रतिग्रह कराये' रूप में बदला जाता है। इसी प्रकार यहां भी **तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्** का अर्थ तस्तमस्मै भक्षं कुर्यात् के रूप में बदला है। व्यवधारण कल्पना के विषय में मीमांसाकोष भाग ७, पृष्ठ ३७६३ पर विस्तार से देखें।

होमात् ॥ ४९ ॥

होमविशेषवचनं भवति—यदान्यांश्चमसाञ्जुह्वति अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहृत्य जुहोति[1] इति इज्याविकारे सति दर्भतरुणकेनेति जुहोतौ गुणवचनमवकल्पते। तस्मादपीज्याविकारः ॥ ४६ ॥

'स यदि राजन्यं वैश्यं वा' इत्यादि वाक्य का फलितार्थ—यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य सोम याग करने की अभिलाषा करे तो सोम के स्थान में न्यग्रोध की कलियां वा फल लाकर उनमें सोम के सभी संस्कारों को करके उन्हें पीसकर दही में मिलाकर उसे ही अग्नि में होम करके उसको भक्षण करें। वे सोम के भक्षण में अधिकारी नहीं हैं।

होमात् ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थः—फलचमस से (होमात्) होम का निर्देश होने से भी वह फलचमस इज्या का विकार है।

व्याख्या—होम का विशेष वचन होता है—यदाऽन्यांश्चमसान् जुह्वति अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहृत्य जुहोति (=जब अन्य चमसों का होम करता है तो इस [फलचमस] का दर्भतरुणक से ग्रहण करके होम करता है)। इज्या का विकार होने पर दर्भतरुणक से होम में गुणवचन समर्थ होता है। इस से भी इज्या का विकार है।

विवरण—दर्भतरुणकेनोपहृत्य जुहोति—दर्भतरुणक शब्द शतपथ (३।१।२।७ आदि) में अन्तोदात्त देखा जाता है। अतः दर्भतरुण शब्द से ह्रस्व अर्थ में (अष्टा० ५।३।८६) क प्रत्यय जानना चाहिये। आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों में इस प्रकरण में 'दर्भतरुण' शब्द का पाठ मिलता है। यथा—अथैतस्य चमसस्य दर्भतरुणेनोपहृत्य (आप० श्रौत १२।२४।५; सत्या० (हिरण्य०) श्रौत ८।७।४३)। सत्याषाढ (हिरण्यकेशीय) श्रौत ८।७।४३ में तरुण शब्द के तीन अर्थ—तरुणशब्दोऽग्रवाची ······। अथवा तरुणशब्दो दाढर्यार्थकः ···। अथवा तरुणशब्दः स्तम्बवाची मान कर उपरिनिर्दिष्ट वाक्य के तीन अर्थ लिखे हैं—(१) एकवचन निर्देश से एक दर्भ। सह्योग में तृतीया होने से अर्थ होगा—एक दर्भ के अग्र भाग के सहित दर्वि आकार के पात्र से आहवनीय से पृथक् किये अंगारे पर होम करता है। (२) दृढ दर्भ से फलचमसस्थ रस को ग्रहण करके पूर्ववत् होम करता है=टपकाता है। (३) दर्भ के गुच्छे से फलचमसस्थ रस को ग्रहण करके पूर्ववत् टपकाता है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—यदान्यांश्चमसाञ्जुह्वत्यथैतस्य दर्भतरुणेनोपहृत्यान्तः परिध्याहवनीयादङ्गारं निवर्त्याहं त्वदस्मीति जुहोति। सत्या० श्रौत ७।८॥

चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥५०॥ (उ०)

यदान्यांश्चमसानुन्नयन्ति, अथैनं चमसमुन्नयन्ति' इति । इज्याविकारे सति उन्नयनदर्शनं युज्यते, न भक्षविकारे । तस्मादपीज्याविकारः ॥५०॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५१॥ (उ०)

इतश्च पश्याम इज्याविकार इति । कुतः ? लिङ्गदर्शनात् । किं लिङ्गं भवति ? सोमप्रतिषेधानुवादः—**तमस्मै भक्षं प्रयच्छेद्, न सोमम्'** इति । इज्याविकारे सति सोमो न भक्ष्यते । तस्मात् पश्याम इज्याविकार इति ॥५१॥ **फलचमसस्य इज्याविकारताऽधिकरणम्** ॥१६॥

—:०:—

चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥ ५० ॥

सूत्रार्थः—(चमसैः) अन्य चमसों के साथ (तुल्यकालत्वात्) फलचमस के उन्नयन का समान काल होने से (च) भी यह इज्याविकार है।

व्याख्या—यदान्यांश्चमसानुन्नयन्ति अथैनं चमसमुन्नयन्ति (=जब अन्य चमसों का द्रोणकलश से उन्नयन करते हैं तो इस यजमान-चमस का [न्यग्रोधस्तिभी के रस से] उन्नयन करते हैं। [फलचमस के] इज्या का विकार होने पर ही उन्नयन (=रस के ग्रहण) का दर्शन युक्त होता है, भक्षविकार में नहीं होता। इससे भी फलचमस इज्याविकार है।

विवरण—सत्या० श्रौत ८।७।४३ का पाठ है—**यदान्यांश्चमसानुन्नयन्ति अथैतं यजमानचमसमत उन्नयति** । 'अतः' का अर्थ है न्यग्रोधतिभियों को पीसकर दही में मिलाके इस को जिस पात्र में रखा है, उस पात्र से। हमने ऊपर भाष्योद्धृत पाठ की व्याख्या सत्या० श्रौत के सूत्रानुसार की है। हमारे विचार में भाष्योद्धृत 'अथैनं चमसमुन्नयन्ति' पाठ में उन्नेता के एक होने से बहुवचन अयुक्त है ॥५०॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५१॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से भी फलचमस इज्या का विकार है।

व्याख्या—इससे भी जानते है कि [फलचमस] इज्या का विकार है। किस से ? लिङ्ग के दर्शन से। लिङ्ग क्या होता ? सोम के प्रतिषेध का अनुवाद—तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम् (=उस के लिये इस भक्ष को देवे, सोम न देवे)। इज्या का विकार न होने पर सोम का भक्षण नहीं होता है [अतः प्रतिषेध निरर्थक होता है]। इस से जानते है कि इज्या का विकार है ॥५१॥

—:०:—

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तुलनीयम्—यदान्यांश्चमसानुन्नयत्यथैतं यजमानचमसमत उन्नयति । सत्या० श्रौत ८।७।४३॥ २. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६६६ टि० १।

[ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुप्रसर्पणाधिकरणम् ।।२०।।

अस्ति राजसूये दशपेयः । तत्र श्रूयते—**शतं ब्राह्मणाः सोमान् भक्षयन्ति, दशदशैकैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति**[1] इति । अत्र राजन्यचमसे सन्देहः- किं तं राजन्या अनुप्रसर्पेयुः, उत ब्राह्मणा इति ? किं प्राप्तम् ?

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ।।५२।। (पू०)

राजन्या इति । कथम् ? दशदशैकैकं चमसमनुप्रसर्पेयुरिति अनुप्रसर्पतां सङ्ख्या विधीयते । एकस्यां राजन्यजातौ दशसङ्ख्या विधीयते । राजन्यजातिः सैव । तेन तं दश

व्याख्या— राजसूय में दशपेय [नामक याग विशेष] है । उस में सुना जाता है—शतं ब्राह्मणाः सोमान् भक्षयन्ति । दशदशैकैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति (=सौ ब्राह्मण सोम का भक्षण करते हैं । दश दश एक एक चमस के प्रति अनुसर्पण करते हैं । यहां राजन्य के चमस में सन्देह है-क्या राजन्य उस चमस के प्रति अनुसर्पण करें,अथवा ब्राह्मण अनुसर्पण करें ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण —अस्ति राजसूये— राजसूय याग में अधिकार अभिषिक्त राजा का है । यह एक वर्ष से कुछ अधिक दिनों में पूर्ण होता है । इस का आरम्भ फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा से होता है । १ वर्ष तक विभिन्न कर्म होते रहते हैं । तत्पश्चात् अगले वर्ष चैत्र शुक्ला प्रतिपद् के दिन अभिषेचनीय संज्ञक सोम याग होता है, वह ५ दिन साध्य है । इस में प्रथम दीक्षा, ३ दिन उपसत्, तत्पश्चात् १ सुत्या=सोमयाग । तदनन्तर १० संसृप हवियों का याग । इनका विवरण—षष्ठी सप्तमी अष्टमी नवमी दशमी और एकादशी के ६ दिनों में ६ संसृप हविष्क याग होते हैं। तत्पश्चात् द्वादशी के दिन शेष ४ संसृप हविष्कयाग । द्वादशी से ही दशपेय याग का आरम्भ होता है । दशपेय के प्रथम दिन का दीक्षा कर्म अभिसेचनीय में हो जाता है । अतः द्वादशी त्रयोदशी और चतुर्दशी में ३ उपसत् और चौथे पूर्णिमा के दिन सुत्या=सोमयाग होता है (यह कात्यायन श्रौतानुसार है । द्र०—कात्या० श्रौत विद्याधरीय टीका, भूमिका, पृष्ठ ५९-६०-६१) । **दशपेयः—** यह याग विशेष की संज्ञा है । इस का निमित्त है—एक एक चमस में दश दश व्यक्तियों से सोम का पान होना । **दशभिरेकैकस्मिन् चमसे सोमः पीयते ऽस्मिन् कर्मणि स दशपेयः ।**

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ।। ५२ ।।

सूत्रार्थः -(अनुप्रसर्पिषु) राजन्य-चमस में अनुप्रसर्पण करनेवालों=सोम का भक्षण करनेवालों में (सामान्यात्) जाति के सामान्य से राजन्य ही अनुसर्पण करें । [अनुसर्पण भक्षण के लिये होता है, अतः तात्पर्य है कि राजन्यचमस का राजन्य ही भक्षण करें ।]

व्याख्या—[**राजन्य-चमस में दश]राजन्य अनुप्रसर्पण करें । किस हेतु से ? दशदशैकैकं चमसमनुप्रसर्पेयुः में अनुप्रसर्पण करनेवालों की दश दश संख्या का विधान किया जाता है । एक**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तुलनीय उत्तरभागः—यद्दशदशैकैकं चमसमनुप्रसृप्ता भवन्ति । शत० ५।४।५।३।।

राजन्या अनुप्रसर्पेयुः । एवं शतं ब्राह्मणा राजन्याश्च । तेषु शतशब्दोऽनुवादः । अनुवादसरूपश्च शतं भक्षयन्तीति । तस्माद् राजन्या राजन्यचमसमनुप्रसर्पेयुरिति । केचिदाहुः—ब्राह्मणराजन्यानामेकस्मिंश्चमसे भक्षणं विरुद्धयते इति, न स दोषः । न हि सोमेनोच्छिष्टा भवन्ति[1] इति श्रूयते ॥५२॥

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥ ५३ ॥ (उ०)

राजन्य जाति में दश संख्या का विधान किया जाता है । राजन्य जाति वही है । इस कारण उस [राजन्य-चमस] के प्रति दश राजन्य ही अनुप्रसर्पण करें । इस प्रकार ब्राह्मण और राजन्य सौ होवें । इन में शत शब्द अनुवाद है । और अनुवादस्वरूप ही शतं भक्षयन्ति वचन है । इस कारण राजन्य-चमस के प्रति राजन्य अनुप्रसर्पण करें । कुछ आचार्य कहते हैं कि—ब्राह्मणों और राजन्यों का एक चमस में भक्षण विरुद्ध होता है [इस कारण राजन्य-चमस के प्रति राजन्य अनुप्रसर्पण करें] । यह दोष नहीं है । क्योंकि 'सोम के भक्षण से चमस उच्छिष्ट नहीं होते हैं' ऐसा सुना जाता है ।

विवरण—**राजन्यजातिः सैव**—इस का तात्पर्य यह है कि राजन्य को राजसूय का विधान करने से राजन्य जाति प्राप्त ही है । इसलिये दशदशैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति में केवल दश संख्या का विधान है । अतः राजन्य-चमस के प्रति दश राजन्य अनुसर्पण करें, यह प्राप्त होता है । **एवं शतं ब्राह्मणा राजन्याश्च**—इस का भाव है कि शतं ब्राह्मणाः सोमान् भक्षयन्ति में ब्राह्मण और राजन्य मिलकर १०० अभिप्रेत हैं । वचन में ब्राह्मणाः का निर्देश ब्राह्मणग्राम न्याय[2] से अथवा भूमा न्याय (मी० १।४।२७) से जानना चाहिये । **तेन शतशब्दोऽयमनुवादः**—**दशदशैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति** वचन से १०० संख्या तो प्राप्त ही है । अतः शतं ब्राह्मणाः में शत संख्या अनुवादमात्र है । **नहि सोमेनोच्छिष्टा भवन्ति**—इस विषय में यह विचारणीय है कि राजन्य को सोम के स्थान में न्यग्रोध की स्तिभियां पीस कर दी जाती हैं । उनके सोमरूप न होने से उच्छिष्टत्व दोष होगा । उच्छिष्टता होने पर ब्राह्मण और राजन्य एक पात्र में भक्षण नहीं कर सकते । इस का समाधान यह है कि सोम के स्थान में न्यग्रोधस्तिभी का विधान होने से स्थानापत्या उस में सोमधर्म की प्राप्ति होगी । यह बात सूत्रकार मीमांसा ३।६।३६, अधि० १३ में कहेंगे ॥५२॥

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥५३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष 'राजन्य-चमस के प्रति राजन्य अनुप्रसर्पण करें, का निवर्तक है । (ब्राह्मणाः) राजन्य-चमस में ब्राह्मण अनुप्रसर्पण करें, (तुल्यशब्दत्वात्) दोनों वचनों के समानरूप से विधायक होने से ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

२. ग्राम उस मानव-बस्ती का नाम है जिसमें न्यूनातिन्यून ५ कारीगर (=धोबी, बढई, लुहार, कुम्हार और नाई (अन्नंभट्ट के मत में—कुम्हार के स्थान में चर्मकार) होते हैं । फिर भी ब्राह्मणग्राम शब्द का प्रयोग ब्राह्मणों की संख्या अधिक होने से होता है । द्र०—महाभाष्य १।१।४८॥

ब्राह्मणा वा राजन्यचमसमनुप्रसर्पेयुः। कथम् ? **शतं ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति** इति विधिः श्रुत्या ब्राह्मणगतामेव सङ्ख्यामाह। तस्मात् शतं ब्राह्मणाः। तेषां भक्षणार्थमनुप्रसर्पतामेकैकस्मिँश्चमसे दशदशोपदिश्यन्ते। तस्माद् ब्राह्मणशतस्य दश ब्राह्मणा राजन्यचमसमनुप्रसर्पेयुरिति ॥५३॥ **ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसाऽनुप्रसर्पणाधिकरणम् ॥२०॥**

इति **श्रीशबरस्वामिकृते मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः समाप्तः ॥**

—:०:—

विशेष—**तुल्यशब्दत्वात्**—सूत्र के इस पद की व्याख्या स्पष्ट प्रतीत नहीं होती है। भाष्यकार ने इस को छूआ ही नहीं। सुबोधिनी वृत्ति में '**तुल्यशब्दत्वात् दशस्वपि चमसेषु ब्राह्मणा इत्येकजातियशब्दवत्वात्**' लिखा है। इसका भाव है—तुल्यशब्दत्व के कारण दसों चमसों में ब्राह्मण इस एकजातीय शब्द से राजन्य-चमस में भी दश ब्राह्मण ही लिये जायेंगे। कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है—**तुल्यशब्दत्वात् शतं ब्राह्मणा-पिबन्ति इति लटो लेट्रूपकल्पनया अनुप्रसर्पेयुरिति लिङ् प्रत्ययान्तेन तुल्यशब्दत्वात्** अर्थात् **पिबन्ति** में लट् लकार की लेट् लकार के रूप में ['पिबेयुः' अर्थ की] कल्पना करने से **अनुप्रसर्पेयुः** इस लिङ् प्रत्ययान्त शब्द के साथ तुल्यशब्द होने से। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि कुतुहलवृत्तिकार के मत में **शतं ब्राह्मणाः पिबन्ति** उदाहरण में **पिबन्ति** शब्द **भक्षयन्ति** का समानार्थक है। वृत्तिकार ने 'पिबन्ति' को सीधा लेट् का रूप न मान कर लट् की लेट् रूप में कल्पना की है, वह चिन्त्य है। प्रतीत होता है कुतुहलवृत्तिकार को लेट् लकार के रूपों का यथावत् बोध न होने से उसने ऐसी कल्पना की है।

व्याख्या—**ब्राह्मण ही राजन्य-चमस के प्रति अनुप्रसर्पण करें। किस हेतु से?** शतं ब्राह्मणः सोमं भक्षयन्ति **यह विधि श्रुति से ब्राह्मणगत ही संख्या को कहती है। इसलिये सौ ब्राह्मण ही विहित है। भक्षण के लिये अनुप्रसर्पण करते हुए उन सौ ब्राह्मणों में एक एक चमस के प्रति दश दश उपदिष्ट होते हैं। इसलिए सौ ब्राह्मणों में दश ब्राह्मण राजन्य-चमस के प्रति अनुप्रसर्पण करें।**

विवरण—सोमं भक्षयन्तीति विधिः—यह विधि 'भक्षयन्ति' को लेट् लकार का रूप मानने पर उपपन्न होती है ॥५३॥

इति युधिष्ठिरमीमांसककृतायाम्
आर्षमत-विमर्शिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां
तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः पूर्तिमगात् ॥

—:०:—

तृतीयाध्याये षष्ठः पादः

[स्रुवादिषु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिताधिकरणम् ।।
अनारभ्यविधिनां वा प्रकृतिगामित्वाधिकरणम् ।।१।।]

अनारभ्य किञ्चिदुच्यते—**यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति। सरसा अस्य आहुतयो भवन्ति**[1]। **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति**[2] इत्येवमादि। तत्र सन्देहः—किं खादिरता स्रुवे, पालाशता जुह्वां प्रकृतौ निविशते उत प्रकृतौ विकृतौ चेति ? किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—**किसी प्रकरण-विशेष का आरम्भ न कर के कहा जाता है**—यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति सरसा अस्य आहुतयो भवन्ति (**=जिस का खैर का बना हुआ स्रुव** होता है, वह छन्दों के **रस से ही अवदान करता है, इसकी आहुतियां सरस=रससहित** होती है), यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति (**=जिसकी जुहू पर्णमयी=पलाश का विकारभूत=पलाश की बनी हुई होती है, वह बुरा वचन नहीं सुनता** है) **इत्यादि** । इस में सन्देह है—क्या **स्रुव में** उक्त खादिरता **और जुहू में उक्त पालाशता प्रकृति में निविष्ट होती** है **अथवा प्रकृति और** विकृति **दोनों में ? क्या प्राप्त होता है** ?

विवरण—स छन्दसामेव रसेनावद्यति—इस विषय में तै० सं० ३।५।७ में अर्थवाद पढ़ा है—**वषट्कारो वै गायत्रियै शिरोऽच्छिनत् तस्यै रसः परापतत् स पृथिवीं प्राविशत्, स खादिरोऽभवत्** अर्थात् वषट्कार ने गायत्री का सिर काट दिया, उस गायत्री का रस नीचे गिरा, वह भूमि में प्रविष्ट हो गया, वही खादिर वृक्ष हुआ। इस अर्थवाद की दृष्टि से **स छन्दसामेव रसेनावद्यति** कहा है। इसी प्रकार **न स पापं श्लोकं शृणोति** के विषय में भी वहां अर्थवाद पढ़ा है—**तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् तं गायत्र्याहरत् तस्य पर्णमच्छिद्यत तत् पर्णोऽभवत्** अर्थात् यहां से तृतीय द्युलोक में सोम था, उस का गायत्री ने आहरण किया (=उसे गायत्री लाई) उस गायत्री का पर्ण=पंख कट गया, वह [भूमि पर गिर कर] पलाश हुआ। सोम लाते हुए गायत्री का पर्ण=पंख कैसे कटा। इस पर भी एक अर्थवाद है—**तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत् तं गायत्री श्येनो भूत्वाहरत् तस्य पर्णमच्छिद्यत ततः पर्णोऽजायत** (मै० सं० ४।१।१)। इस के अनुसार गायत्री ने श्येन का रूप धारण करके द्युलोक से सोम का आहरण किया था।

---

१. तै० सं० ३।५।७।१।। अत्र संहितायां 'सः' पदं नास्ति।

२. तै० सं० ३।५।७।२।। अत्र संहितायां 'सः' पदं नास्ति।

सर्वार्थमप्रकरणात् ॥ १ ॥ (पू०)

सर्वार्थम् अप्रकरणात्। प्रकृतिविकृत्यर्थमेवं जातीयकम्। कुतः? अप्रकरणात्। न कस्यचित् प्रकरणे श्रूयन्ते। तानि वाक्येन सर्वत्र भवेयुरिति ॥१॥

प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ॥ २ ॥ (उ०)

प्रकृतौ वा निविशेरन्ननारभ्याधीतानि पात्राणि। कुतः? अद्विरुक्तत्वात्। एवमद्विरुक्तं भविष्यतीति। द्विरुक्ततायां को दोषः? असम्भव इति ब्रूमः। यद्धि प्रकृतौ विकृतौ च भवति अस्ति तत् प्रकृतौ। प्रकृतौ चेदस्ति, चोदकेनैव विकृतिं प्राप्नोति।

उस श्येनरूप गायत्री का पंख टूट कर गिर गया। वह पर्ण (=पलाश) हुआ। तै० सं० ३।५।७ में आगे लिखा है—**देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत् पर्ण उपाशृणोत् सुश्रवा वै नाम** अर्थात् देव लोग ब्रह्मविषयक कथन कर रहे थे उस को सुश्रवा नाम के पर्ण ने सुन लिया। यतः पर्ण सुश्रवाः अच्छा सुननेवाला है, अतः जिस यजमान की पर्णमयी जुहू होती है, वह बुरा वचन नहीं सुनता। यह पूरे अर्थवाद वचन का तात्पर्य है। **प्रकृतौ निविशते**—सभी इष्टियों की प्रकृति जो दर्शपूर्णमास है उसमें खादिर स्रुव और पर्णमयी जुहू का निवेश होता है अथवा प्रकृति विकृति सामान्य में।

सर्वार्थम् अप्रकरणात् ॥१॥

सूत्रार्थः—खादिरता और पालाशता (सर्वार्थम्) सभी प्रकृति विकृति के लिये है (अप्रकरणात्) किसी का विशेष प्रकरण न होने से।

व्याख्या—**सर्वार्थ है, विशेष का प्रकरण न होने से। इस प्रकार (=अप्रकरण में पड़ा हुआ) प्रकृति और विकृति सभी के लिये है। किस हेतु से? [किसी का] प्रकरण न होने से। किसी के प्रकरण में [उक्त वचन] नहीं सुने जाते हैं। इस कारण वे वाक्य से सर्वत्र होवें ॥१॥**

प्रकृतौ वा अद्विरुक्तत्वात ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'अप्रकरण अधीत खादिरतादि के प्रकृति विकृति रूप सर्वगामी' होने का निवर्तक है। (प्रकृतौ) उक्त खादिरतादि का प्रकृति में ही निवेश होगा। (अद्विरुक्तत्वात्) द्विरुक्त=दोबार कहा हुआ न होवे इस कारण भाव यह कि अप्रकरणाधीत खादिरता आदि धर्म प्रकृति विकृति दोनों में निविष्ट होवें तो विकृति में **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** वचन से प्रकृतिगत खादिरतादि धर्म विकृति में प्राप्त होंगे। इस प्रकार विकृति में खादिरतादि का निवेश द्विरुक्त हो जायेगा।

व्याख्या—**अनारभ्याधीत पात्र प्रकृति में निविष्ट होवें। किस हेतु से? अद्विरुक्त होने से। इस प्रकार (=खादिरतादि के प्रकृतिगामी होने पर) द्विरुक्त नहीं होगा। द्विरुक्त होने में क्या दोष है? 'असम्भव दोष है' ऐसा हम कहते हैं। जो प्रकृति और विकृति में होता है, वह प्रकृति में है ही। प्रकृति में यदि है तो चोदक वचन (=अतिदेश वचन) से ही विकृति में प्राप्त**

तता नानारभ्यविधिमाकाङ्क्षति। तस्मादनाकाङ्क्षितत्वादनारभ्य विधिर्न तत्र विदधाति। तेन ब्रूमः—प्रकृत्यर्थ एवेति ॥२॥

तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते ॥ ३ ॥ (पू०)

अप्रकरणात् प्रकृतिविकृत्यर्थमेवेत्युच्यते। यत्तु चोदकेन प्राप्नोतीति। अनारभ्यविधिना प्राप्ते न चोदकमाकाङ्क्षति। तस्मादनारभ्यविधिवर्जं चोदकः प्रापयिष्यति। अनारभ्यविधिवाक्येन प्रत्यक्षेण स्रुवे खादिरता, चोदकवाक्येन आनुमानिकेन विकृतौ। आनुमानिकाच्च प्रत्यक्षं बलवत्। तस्मात् प्रकृतिविकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिः ॥३॥

दर्शनादिति चेत् ॥ ४ ॥ (आशङ्का)

होता है। इस कारण विकृति अनारभ्याधीत विधि की आकाङ्क्षा नहीं करती है। इस लिये आकाङ्क्षित न होने से अनारभ्य विधि वहां (=विकृति में) विधान नहीं करती है। इस हेतु से कहते हैं, [अनारभ्याधीत विधान] प्रकृति के लिये ही है।

विवरण—प्रकृतियाग के लक्षण में याज्ञिकों और मीमांसकों में कई मत देखे जाते हैं। प्रकृतियाग के सभी लक्षणों के सम्बन्ध में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के आरम्भ में लिखित 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' नामक निबन्ध में पृष्ठ ६२ से ६४ तक विस्तार से लिख चुके हैं। अतः हम यहां पुनः नहीं लिखते। पाठक प्रकृति विकृति के विभिन्न लक्षणों को तथा तत्सम्बधी विचार को वहीं देखें। **अनारभ्याधीतानि पात्राणि**—यहां खादिरता आदि धर्म विशिष्ट पात्रों से अभिप्राय है। वस्तुतः अनारभ्यविधि से खादिरतादि धर्मों की ही प्राप्ति होती है। स्रुवादि पात्रों का विधान तो प्रकृति में विद्यमान है ॥२॥

तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते ॥३॥

सूत्रार्थः—(वचनप्राप्ते) अनारभ्य विधि वचन से विकृति यागों में प्राप्ति होने पर (तद्वर्जम्) उस अनारभ्यविधि प्राप्त को छोड़कर ही चोदक=अतिदेश वचन से प्राप्ति होनेपर (तु) तो द्विरुक्तता नहीं होगी।

व्याख्या—अप्रकरण पठित वचन से प्रकृति विकृति दोनों के लिये ही खादिरतादि धर्मों का विधान किया है। और जो यह कहा कि विकृति में चोदकवचन से खादिरतादि धर्म प्राप्त होते हैं, यह ठीक नहीं है, अनारभ्य विधि से प्राप्त हो जाने पर विकृति चोदकवचन की आकाङ्क्षा नहीं करती है। इसलिये अनारभ्यविधि को छोड़कर चोदकवचन प्राप्त करायेगा। प्रत्यक्ष अनारभ्यविधि वाक्य से स्रुव में खादिरता है, विकृति में आनुमानिक चोदकवाक्य से खादिरता प्राप्त होती है। आनुमानिक वाक्य से प्रत्यक्ष वाक्य बलवान् होता है। इस कारण प्रकृति विकृति दोनों के लिये अनारभ्यविधि है ॥३॥

दर्शनादिति चेत् ॥४॥

सूत्रार्थः—(दर्शनाद्) विकृति यागों में प्रयाजादि का दर्शन होने से चोदक वचन से अनारभ्यविधि बलवान् नहीं है, (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

यदि आनरभ्य विधिश्चोदकाद् बलीयान् अनारभ्यविधिना प्राप्ते न चोदकमाकाङ्क्षति। निरकाङ्क्षे वैकृते कर्मणि चोदको नैव प्राप्नोति। तत्र प्रयाजादीनां दर्शनं नैवोपपद्येत। दृश्यन्ते च प्रयाजादयः क्वचित्—**प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति**[1] इति। अथ चोदको बलीयांस्तत एतद् दर्शनमुपपद्यते। तस्मात् प्रकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिः ॥४॥

न चोदनैकार्थ्यात्॥ ५। (आ० नि०)

व्याख्या—**यदि अनारभ्य विधि चोदकवचन से बलवान् है तथा अनारम्य विधि से [धर्मों के] प्राप्त होने पर [विकृति] चोदकवचन की आकाङ्क्षा नहीं करती है। निराकाङ्क्ष विकृति कर्म में चोदकवचन प्राप्त नहीं होता है तो वहां (=विकृति में) प्रजाज आदि का दर्शन उपपन्न नहीं होवे। परन्तु** दिखाई देते हैं—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति—**प्रतिप्रयाज कृष्णल (=गुञ्जा-परिमित सुवर्ण निर्मित गोली) का होम करता है। यदि चोदक बलवान् होवे तब तो यह दर्शन उपपन्न होता है। इसलिये अनारभ्यविधि प्रकृति के लिये ही है।**

विवरण—तत्र प्रयाजादीनां दर्शनम्—पूर्वसूत्र में पूर्वपक्षी ने चोदक वचन की अबलवत्ता कह कर अनारभ्य अधीत विधियों को छोड़कर चोदक वचन प्राप्त होता है, ऐसा कहा था। परन्तु सिद्धान्ती ने यहां उस के एकदेश 'चोदकवचन से अनारभ्यविधि बलवान् है' इतने अंश पर आशङ्का की है। **प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति**—यह वचन ब्रह्मवर्चस्कामनावाले के लिये विहित सौर्येष्टि में पठित है। द्र० तै० सं० २।३।२।२-३॥ **कृष्णलम्** कृष्णला=गुञ्जा=घुंघुची का नाम है। १ गुञ्जा=१ रत्ती परिमाण होता है। यहां गुञ्जा परिमाण सुवर्ण कृष्णल शब्द से अभिप्रेत हैं।।४।।

न चोदनैकार्थ्यात् ।।५।।

सूत्रार्थः—(न) अनारभ्यविधि प्रकृत्यर्थ है, यह नहीं है (चोदनैर्थ्यात्) चोदना के एक प्रयोजन वाला होने से। इसका तात्पर्य यह है कि चोदक वचन से विकृति में स्रुव आदि के उपस्थित होने पर अनारभ्यविधि खादिरता आदि का विधान करती है। अतः अनरभ्याधीत खादिरता आदि प्रकृति विकृति उभयत्र निविष्ट होती हैं।

विशेष—यह भाष्यानुसारी अर्थ है। पूर्व सूत्र में जिस रूप में आशङ्का उपस्थित की है, तदनुसार प्रकृत सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

(न) विकृति याग में प्रयाजों के दर्शन से चोदक वचन अनारभ्याधीत वचन से बलवान् नहीं है। (चोदनैकार्थ्यात्) चोदक वाक्य का अन्य प्रयोजन होने से। अर्थात् जहां अनारभ्याधीत विधि से विकृति में प्राप्ति होती है, उन से अन्य विधियों की प्राप्ति के लिये चोदक वचन है।

इस अर्थ में 'एक' शब्द 'अन्य' का वाचक है। अमरकोश ३।४।१६ में कहा है—**एक-मुख्यान्यकेवलाः**। इस सूत्र की कुतुहलवृत्ति भी द्रष्टव्य है।

---

१. तै० सं० २।३।२।३॥

न प्रकृत्यर्थः । सर्वार्थ इति ब्रूमः—अप्रकरणे समाम्नानात् । यदुक्तम्—अनारभ्यविधिना निराकाङ्क्षस्य न चोदक इति । तन्नोपपद्यते । न हि अनारभ्यविधिश्चोदनां निराकाङ्क्षीकरोति । प्राप्ते हि चोदकेन स्रुवे खादिरता अनारभ्यविधिना शक्या विधातुम् । असति चोदकेऽनारभ्यविधिरपि नास्ति । न चानारभ्यविधिः स्रुवं प्रापयति, तस्य च खादिरताम् । कुतः ? चोदनैकार्थ्यात् । एकार्था हि चोदना, **यस्य खादिरः स्रुवो भवति** इति । नात्र स्रुवः खादिरता चोभयं विधीयते । स्रुवस्य सतः खादिरतामेष शब्द आह । स च चोदकेन प्राप्तः । तस्मादस्ति चोदकः । स हि अनारभ्यविधिवाक्यस्य प्रत्यक्षत्वात् तं वर्जयित्वा अन्यं प्रापयति । तस्मात् प्रकृतिविकृत्यर्थोऽनारभ्य विधिः ॥५॥

उत्पत्तिरिति चेत् ॥ ६ ॥ (आ०)

इति चेत् पश्यसि, उत्पत्तिरेषां प्रकृतिविधिभिस्तुल्या, प्रकृतावङ्गानि सङ्क्षेपेण विस्तरेण चोच्यन्ते । **पञ्च प्रयाजान् यजति**[1] इति सङ्क्षेपेण । **समिधो यजति**[2] इत्येवमादिना

व्याख्या—[अनारभ्याधीत खादिरतादि] प्रकृति के लिये नहीं है । सब (=प्रकृति विकृति) के लिये है, ऐसा हम कहते हैं—अप्रकरण में पठित होने से । जो यह कहा है—'अनारभ्याधीत विधि से निराकाङ्क्ष के लिये चोदक वचन प्राप्त नहीं होता है' यह कथन उपपन्न नहीं होता है । अनारभ्यविधि चोदना (=अतिदेश) को निराकाङ्क्ष नहीं करता है । चोदकवचन से [विकृति में] स्रुव के प्राप्त होने पर ही अनारभ्यविधि से खादिरता का विधान किया जा सकता है । चोदकविधि के न होने पर अनारभ्यविधि भी नहीं है, [क्योंकि जब विकृति में चोदक विधि स्रुव का अतिदेश करती है, तदनन्तर प्राप्त स्रुव की खादिता अनारभ्यविधि से कही जाती है] । अनारभ्यविधि [विकृति में] स्रुव को न प्राप्त कराती है, और ना ही उस की खादिरता का विधान करती है । किस हेतु से ? चोदना का एक प्रयोजन होने से । एक प्रयोजनवाली ही चोदना है—यस्य खादिरः स्रुवो भवति (=जिस का खैर का स्रुव होता है)। यहां स्रुव और खादिरता दोनों का विधान नहीं किया जाता है । यह शब्द (=वचन) विद्यमान स्रुव की खादिरता को कहता है । और वह स्रुव [विकृति में] चोदकवचन से प्राप्त है । इसलिये चोदक वचन है । वह चोदक अनारभ्यविधि वाक्य के प्रत्यक्ष होने से तद्विहित (=चोदकवचन विहित) को छोड़कर अन्य को प्राप्त कराता है । इसलिये प्रकृति विकृति दोनों के लिये अनारभ्यविधि है ।

उत्पत्तिरिति चेत् ॥६॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तिः) अनारभ्यविधि से प्रकृति में खादिरत्व आदि विशिष्ट स्रुव आदि की उत्पत्ति होवे (इति चेत्) ऐसा मानें तो ।

व्याख्या—यदि यह समझते हो—इन [स्रुव आदि की अनारभ्यविधि से] उत्पत्ति प्रकृतिगत विधियों से तुल्य है । प्रकृति में अङ्गों का विधान संक्षेप और विस्तार से कहा जाता

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—पञ्च प्रयाजा इज्यन्ते । तै० सं० २।६।१०।४॥
२. तै० सं० २।६।१॥

विस्तरेण । इहापि यस्य खादिरः स्रुवो भवति[1] इत्येवमादिर्विस्तरः, यस्यैवंरूपाः स्रुचः[1] इति सङ्क्षेपः । एवंरूपः प्रकृतौ विधिर्दृष्टः, अयमप्येवंरूपः । तस्मात् प्राकृत इति सामान्यतो दृष्टानुमानम् । तस्मात् प्रकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिरिति ॥६॥

न तुल्यत्वात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०)

नैतदेवम् । न हि एवञ्जातीयकं सामान्यतो दृष्टं साधकं भवति । केवलमत्र प्राकृतविधिसारूप्यं न तु प्रकृतावेनद् भवतीति प्रमाणमस्ति । अपि च, विकृतावपि सङ्क्षेपविस्तराभ्यामङ्गानि विधीयन्ते । तिस्र आहुतीर्जुहोति[2] इति सङ्क्षेपः । आमनमस्यामनस्य

है । पञ्च प्रयाजान् यजति (=पांच प्रयाजों का यजन करता है) यह संक्षेप से विधान है, समिधो यजति इत्यादि से विस्तार से । [इसी प्रकार] यहां भी यस्य खादिरः स्रुवो भवति इत्यादि से विस्तार से और यस्यैवंरूपाः स्रुचः (=जिस की इस प्रकार की स्रुच् होती हैं) संक्षेप से विधान है । इस प्रकार की (=संक्षेप विस्तार रूप) विधि प्रकृति में देखी गई है, यह (=अनारम्यविधि) भी इसी प्रकार की है । इसलिये [अनारम्यविधि] प्रकृति में उपदिष्ट है, यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान है । इस कारण [अनारम्यविधि] प्रकृति के लिये है ।

न तुल्यत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(न) सामान्यतो दृष्ट अनुमान से अनारम्यविधि प्रकृति के लिये नहीं है । (तुल्यत्वात्) विकृति के साथ तुल्य होने से । अर्थात् विकृति में भी संक्षेप और विस्तार से विधि देखी जाती है । अतः अनारम्यविधि प्रकृतिगामी नहीं है । प्रकृति विकृति सभी के लिये है ।

विशेष—यह सूत्रार्थ भाष्य के अनुसार है । सुबोधिनी वृत्तिमें इन दोनों सूत्रों का अर्थ इस प्रकार किया है—

(६) (उत्पत्तिः) अनारम्याधीत विधि से विकृति में स्रुच् आदि की उत्पत्ति भी होवे (इति चेत्) ऐसा मानें तो । इसका भाव यह है कि स्रुच् आदि की प्राप्ति के लिये चोदक की आकाङ्क्षा नहीं है ।

(७) (न) 'विकृति में चोदक की अपेक्षा नहीं है' ऐसा नहीं है । (तुल्यत्वात्) अनारम्यविधि के तुल्यत्ववाचक 'एवंरूपाः' से युक्त होने से । इसका भाव यह है कि यस्यैवंरूपाः स्रुचो भवन्ति में एवंरूप शब्द पूर्व विद्यमान स्रुच् का निर्देश करता है । अतः चोदक से ही जुहू की प्राप्ति होगी ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है । इस प्रकार का सामान्यतो दृष्ट साधक नहीं होता है । यहां (=अनारम्यविधि में) केवल प्रकृतिगत विधि से सारूप्यमात्र है, प्रकृति में यह (=अनारम्यविधि होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । और भी, विकृति में भी संक्षेप और विस्तार से अङ्गों का विधान किया जाता है । तिस्र आहुतीर्जुहोति (=तीन आहुतियां देता) यह संक्षेप

---

१. तै० सं० ३।५।७॥ २. तै० सं० २।३।६।३॥

देवा:' इति विस्तरः । अतो वैकृतैरप्यनारभ्यविधयस्तुल्याः । तस्मादयमहेतुः प्रकृतिनिवेशस्य ॥७॥

चोदनार्थकात्स्न्यात् तु मुख्यविप्रतिषेधात् प्रकृत्यर्थः । ८ ॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न सर्वार्थोऽनारभ्यविधिः । प्रकृत्यर्थः स इति ब्रूमः । कुतः ? चोदनार्थकात्स्न्यात् । कृत्स्नं चोदकः प्रापयति, नानारभ्यविधिना वैकृतमपूर्वं निराकाङ्क्षम् । पात्राणां हि तद् वाक्येन, न यागानाम् । यागाश्चोदनालिङ्गसंयोगात् प्रकृतिमपेक्षन्ते, तया सहैकवाक्यतां यान्ति । प्राकृताश्च ताञ्च्छ्लवनुवन्ति निराकाङ्क्षी-

---

है । आमनमस्यामनस्य देवाः (='आमनमस्यामनस्य देवाः' से आहुति देता है) यह विस्तार है । अतः वैकृत विधियों से भी अनारभ्यविधियां तुल्य हैं' । इसलिये यह [अनारभ्यविधि-के] प्रकृति में निवेश होने का हेतु नहीं है ।

चोदनार्थकात्स्न्यात् तु मुख्यविप्रतिषेधात् प्रकृत्यर्थः ॥८॥

सूत्रार्थ—(तु) 'तु' शब्द 'अनारभ्याधीत विधि **के प्रकृति** विकृति सर्वार्थत्व' का निवर्तक है । (चोदकार्थकात्स्न्यात्) विकृति में चोदक से कृत्स्न अर्थों=उपकारों की प्राप्ति होने से (मुख्यविप्रतिषेधात्) मुख्य=प्रत्यक्षपठित अनारभ्यविधि के विप्रतिषेध=विरोध में चोदक शास्त्र के पूर्व प्रवृत्त होने से अनारभ्यविधि(प्रकृत्यर्थः)प्रकृत्यर्थ है । अथवा **मुख्यविप्रतिषेधात्** ल्यब्लोप में पञ्चमी है । मुख्य=प्रत्यक्षपठित अनारभ्याधीत विधि के विरोध को प्राप्त कर चोदक शास्त्र के पूर्वप्रवृत्त होने से अनारभ्यविधि प्रकृत्यर्थ है ।

इसका भाव यह है कि यद्यपि अनारभ्यविधि से विकृति में खादिरतादि का विधान प्राप्त होता है, पुनरपि उस के लिये चोदकवचन से विकृति में स्रुव आदि की उपस्थिति आवश्यक है । इसलिये अनारभ्यविधि से चोदक विधि पहले प्रवृत्त होती है । अत एव उसी चोदकविधि से स्रुव आदि की प्राप्ति के साथ पर्णता आदि की भी प्राप्ति हो जायेगी क्योंकि पूर्वपक्षी अनारभ्यविधि को प्रकृति विकृति सभी के लिये स्वीकार करता है । अतः अनारभ्यविधि से प्रकृति में भी खादिरता आदि के निविष्ट होने से चोदकवचन से ही विकृति में स्रुव आदि के साथ खादिरता आदि धर्म भी प्रवृत हो जायेंगे । अतः अनारभ्यविधि को विकृत्यर्थ मानना अयुक्त है ।

व्याख्या—**'तु' शब्द पक्ष को निवृत करता है । अनारभ्यविधि सर्वार्थ नहीं है । वह प्रकृति के लिये है, ऐसा हम कहते हैं । किस हेतु से ? चोदना=चोदक वचन से कृत्स्न अर्थ (=धर्म विशिष्ट स्रुवादि) का प्रापक होने से । चोदकवचन कृत्स्न अर्थ को प्राप्त कराता है । अनारभ्यविधि से विकृतियाग से सम्बद्ध अपूर्व निराकाङ्क्ष नहीं होता है । वह (खादिरता आदि) वाक्य से पात्रों का [धर्म] है, यागों का नहीं है । विकृतियाग चोदनालिङ्ग के संयोग से प्रकृति की अपेक्षा करते हैं, और उसके साथ एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं । प्राकृत [पात्र, पात्रधर्म,**

---

१. तै० म० २।३।६।३॥

कर्त्तुं, नाऽनारभ्यविषयः। तस्मादवश्यं चोदक उत्पादयितव्यः। स चेदुत्पाद्यते, नार्थो-ऽनारभ्यविधिना। न चासौ प्रकरणादीनामभावात् प्रवर्त्तमानोऽपि वैकृतेन यागेन सम्ब-द्ध्येत। तस्माद् वैकृतेन कर्मणा नानारभ्यविधिः सम्बद्ध्यते। न तस्य वैकृतस्य मुख्यस्या-नारभ्यविधिर्वाक्यशेषः। 'प्रकृतौ वा'[1] इति प्रतिषेधे चोदकसामर्थ्यात् प्राकृते वाक्यशेषे प्राप्ते अनारभ्यविधिर्न भविष्यति। तस्माद् अनारभ्यविधिः प्रकृत्यर्थः ॥ ७ ॥ ॥ स्रुवा-दिषु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिताधिकरणम् ॥ १ ॥

—:o:—

[सामिधेनीनां सप्तदशसंख्याया विकृतिगामिताधिकरणम् ॥२॥]

अनारभ्य किञ्चित् सामिधेनीनां परिमाणमाम्नातम्— सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्'[2]

अङ्गकर्म आदि] उन विकृति यागों को निराकाङ्क्ष कर सकते हैं,अनारभ्यविधियां निराकाङ्क्ष नहीं कर सकती। इसलिये चोदक को अवश्य उत्पन्न करना होता है, [अर्थात् चोदकवचन का आश्रय लेना पड़ेगा]। और वह चोदकवचन यदि उत्पन्न होता है, तो अनारभ्यविधि से [विकृतियों को] कोई प्रयोजन नहीं है। और वह प्रकरण आदि के अभाव से [विकृति यागों में] प्रवृत्त हुआ भी वैकृत याग से संबद्ध नहीं होता है। इस कारण वैकृत कर्म से अनारभ्यविधि संबद्ध नहीं होती है। उस मुख्य वैकृत याग का अनारभ्यविधि वाक्यशेष भी नहीं है। 'प्रकृतौ वा' (मी० ३।६।२) इस प्रतिषेध के होने पर चोदक के सामर्थ्य से प्राकृत वाक्यशेष के प्राप्त होने पर अनारभ्यविधि [विकृति में] नहीं होगी। इस हेतु से अनारभ्यविधि प्रकृत्यर्थ है।

विवरण—यागाश्चोदनालिङ्ग-संयोगात्— 'निर्वपेत' आदि चोदना लिङ्ग के संयोग से विकृतियागों में केवल यागों का विधानमात्र होता है। विधानमात्र से याग सम्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिये जैसे प्रकृति याग से अपूर्व सिद्ध किया है उसी प्रकार इन यागों से भी अपूर्व सिद्ध करना चाहिये, यह चोदना=चोदक का लिङ्ग है। इसके संयोग से ही **विकृतियां प्रकृति की अपेक्षा** करती है और प्रकृति के साथ एक वाक्यता को प्राप्त होती हैं ॥८॥

—:o:—

व्याख्या—**प्रकरण विशेष का आरम्भ न करके कुछ सामिधेनियों का परिमाण पढ़ा है—** सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात (=१७ **सामिधेनियां बोले**)। **इस में सन्देह है—क्या यह**

---

१. मी० ३।६।२॥

२. अनुपलब्धमूलम्। कैश्चिदत्र शत० १।४।१।१२ निर्देशः, कृतः, अपरैश्च शत०१।५।१।१२ निर्देशः कृतः, स सर्वोऽपि सप्रमाद एव। नह्युभयत्र वचनमिदमुपलभ्यते। यत्तु शत० कां० १, अ०१, ब्रा० ५, कं० १० स्थाने 'सप्रदशसामिधेनीः' एतावान् पाठ उपलभ्यते, स खलु दर्शपौर्णमास-प्राकरणिकः, नत्वनारभ्यवादः।

इति । तत्र सन्देहः—किममेतत् प्रकृतौ, उत विकृताविति ? किं प्राप्तम् ? पूर्वेण न्यायेन प्रकृताविति प्राप्तम् । प्रकृतौ च पाञ्चदश्यमाम्नातं, तेन विकल्प इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥ ९ ॥

विकृतावेवञ्जातीयको विधिः स्यात् । कस्मात् ? प्रकृतेः पाञ्चदश्येन निराकाङ्क्षत्वात् । ननु विकल्पो भविष्यतीत्युक्तम् । प्रकरणविशेषात् पाञ्चदश्येन न विकल्पः, विषमशासनात् । विकृतौ तु आनुमानिकं पाञ्चदश्यं बाधित्वा, अनारभ्यविधिवाक्येन प्रत्यक्षेण साप्तदश्यं निवेक्ष्यते । अद्विरुक्तं चैतत् प्रयोगवचनमुपसंहरिष्यति । तस्मादेवञ्जातीयकं विकृत्यर्थम् ॥९॥ **सामिधेनीनां सप्तदशसंख्याया विकृतिगामिताऽधिकरणम् ॥२॥**

—:०:—

[सप्तदशत्व] प्रकृति में निविष्ट होता है अथवा विकृति में ? क्या प्राप्त होता है ? —पूर्व न्याय से प्रकृति में निविष्ट होता है, यह प्राप्त होता है । प्रकृति में [सामिधेनियों का] पञ्चदशत्व कहा है । उस के साथ [सप्तदशत्व का] विकल्प होता है । ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

प्रकरणविशेषात् तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व न्याय की व्यावृत्ति के लिये है । अर्थात् अनारभ्याधीत सप्तदश सामिधेनियां प्रकृति में निविष्ट नहीं होंगी । (प्रकरणविशेषात्) प्रकृति=दर्शपूर्णमास प्रकरण में विशेष पञ्चदश सामिधेनियों के कहने से (विरोधि) सप्तदशत्व विरोधी (स्यात्) होवे । अतः यह सप्तदशत्व विकृति में निविष्ट होगा ।

व्याख्या—इस प्रकार की [सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्] विधि विकृति में निविष्ट होवे । किस हेतु ? प्रकृति के पञ्चदशत्व के साथ निराङ्क्ष हो जाने से ।(आक्षेप)[प्रकृति के पञ्चदशत्व के साथ सप्तदशत्व] का विकल्प होगा ऐसा कह चुके हैं । (समाधान) [प्रकृति याग] प्रकरण में [पञ्चदश सामिधेनियों का] विशेष निर्देश होने से पञ्चदशत्व के साथ [सप्तदशत्व का] विकल्प नहीं होगा, विषम शासन होने से । विकृति में तो सामिधेनियों के आनुमानिक पञ्चदशत्व को बाध कर प्रत्यक्ष अनारभ्यविधि वाक्य से सप्तदशत्व निविष्ट हो जायेगा । और यह सप्तदशत्व [विकृति में] द्विरुक्त भी नहीं है । इस को प्रयोगवचन उपसंहृत कर लेगा । इसलिये इस प्रकार का विधान विकृति के लिये है ।

विवरण—**विकृतावेवंजातीयकः**—'विकृति में' निर्देश करने पर भी सभी विकृतियों में सप्तदश सामिधेनियों का निवेश नहीं होता है । किन्तु मित्रविन्दादि कतिपय विकृतियों में ही सप्तदशत्व का निवेश होता है । यह आगे दशवें अध्याय के आठवें पाद के नवम अधिकरण (सूत्र १६—१९) में कहेंगे । **विषमशासनात्**—इस की ही व्याख्या अगले **विकृतौ तु आनुमानिकं**

[गोदोहनादीनां प्रकृतिगामिताधिकरणम् ॥३॥]

दर्शपूर्णमासयोराम्नातम्—गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेद्[1] इति। तथा अग्नीषोमीये पशौ श्रूयते यूपं प्रकृत्य—बैल्वो ब्रह्मवर्चसकामेन कर्त्तव्यः[2] इति। एवञ्जातीयकेषु सन्देहः। किं प्रकृतौ निवेशो विकृतौ वेति? किं प्राप्तम्? विकृताविति। प्रकृतिरन्येन पात्रेण यूपेन च निराकाङ्क्षा। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगविशेषात् ॥ १० ॥

प्रकृतौ नैमित्तिकं निविशते। निमित्तसंयोगेन विधानात्। खादिरपालाशरौहितका अविशेषेणोक्ताः, चमसश्च। गोदोहनं बैल्वश्च विशेषविहितौ। विशेषविधिना चाऽविशेष-

---

वाक्य से की है। **आनुमानिकं पाञ्चदश्यं बाधित्वा**—विकृति में सामिधेनियों की पञ्चदश संख्या **प्रकृतिवद् विकृतिः कुर्यात्** इस वचन से प्राप्त होती है, अतः विकृति में पंचदश संख्या आनुमानिक है। **प्रयोगवचनमुपसंहरिष्यति**—प्रयोगवचन का अर्थ है—प्रकरण विशेष में पठित सम्पूर्ण विधियों का संग्राहक वचन (द्र०—टुप् टीका १२।१।२।७; मीमांसाकोष भाग ५, पृष्ठ २७६६) ॥६॥

—:o:—

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में पढ़ा है**—गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् (=**पशु की कामना वाले यजमान का अप:प्रणयन गोदोहन**=जिसमें गायें दुही जाती हैं, उस पात्र से करें)। **तथा अग्नीसोमीय पशु में यूप के विषय में** सुना जाता है—बैल्वो ब्रह्मवर्चसकामेन कर्त्तव्यः (=**ब्रह्मवर्चस् की कामना वाले को** बिल्व वृक्ष निर्मित यूप बनाना चाहिये)। **इस प्रकार के द्रव्यों में सन्देह होता है—क्या इनका** प्रकृति में निवेश होता है, अथवा विकृति में? **क्या प्राप्त होता है? विकृति में निवेश होता है। क्योंकि प्रकृति अन्य पात्र (=चमस) से और अन्य** [खादिर आदि] **यूप से** निराकाङ्क्ष है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः सयोगविशेषात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(नैमित्तिकम्) नैमित्तिक द्रव्यादि (तु) तो (प्रकृतौ) प्रकृति में निविष्ट होता है। (संयोगविशेषात्) कामना के संयोग विशेष के कारण वह (तद्विकारः) सामान्यरूप से विहित का विकार है।

व्याख्या—**नैमित्तिक** प्रकृति में निविष्ट होता है। **निमित्तरूप संयोग से विधान होने के कारण। खादिर** पालाश रौहितक (=**खैर**, पलाश और रोहितक वृक्ष से निर्मित) [**यूप पशुयाग में**] **सामान्यरूप से** विहित है। **और** [दर्शपूर्णमास में] **चमस। गोदोहन और बैल्व विशेष विहित हैं। विशेषविधि से सामान्यविधि बाधी** जाती है। **प्रकरण सामान्य है, निमित्त का**

---

१. आप० श्रौत १।१६।२॥ २. अनुपलब्धमूलम्।

विधिर्बाध्यते। प्रकरणं सामान्यम्, निमित्तसंयोगो विशेषः। सामान्येन यत् प्राप्नोति तत् परोक्षं लक्षणया। यत्तु विशेषेण तत् प्रत्यक्षं श्रुत्या। श्रुतिश्च लक्षणाया बलीयसी, प्रत्यक्षं च परोक्षात्। तस्मात् प्रकृतावेव स्यात् ॥१०॥ **गोदोहनादीनां प्रकृतिगामिताधिकरणम् ॥३॥**

—:०:—

[आधानस्य पवमानेष्टयनङ्गताधिकरणम् ॥४॥]

सन्ति पवमानेष्टयः—**अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्, अग्नये पावकायाग्नये शुचये**[1] इति। तासां प्रकरणं समाम्नातम्—**ब्राह्मणो वसन्ते अग्निमादधीत**[2] इति। तत्र सन्देहः—किम् अग्न्याधेयं पवमानेष्टयर्थम्, उत नेति? किं प्राप्तम्?

इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥ ११ ॥

इष्टयर्थमिति। कुतः? प्रकरणात् तासां। प्रकरणे श्रूयते। अतस्तदर्थम् ॥ ११ ॥

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १२ ॥

संयोग विशेष है। सामान्य विधि से जो प्राप्त होता है, वह लक्षणा से परोक्ष भूत है और जो विशेष विधि से प्राप्त होता है, वह श्रुति से प्रत्यक्ष है। श्रुति लक्षणा से बलवती होती है, और प्रत्यक्ष परोक्ष से बलवान् होता है। इस कारण नैमित्तिक प्रकृति में ही निविष्ट होवें।

—:०:—

व्याख्या—पवमानेष्टियां हैं—अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये (= पवमान अग्नि, पावक अग्नि और शुचि अग्नि के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे)। इन्हीं के प्रकरण में पढ़ा है—ब्राह्मणो वसन्ते अग्निमादधीत (ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान करे)। इस में सन्देह है—क्या अग्न्याधेय पवमान आदि इष्टियों के लिये है, अथवा नहीं। क्या प्राप्त होता है?

इष्टयर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥११॥

सूत्रार्थः (अग्न्याधेयम्) अग्न्याधेय (इष्टयर्थम्) पवमान आदि इष्टियों के लिये है। (प्रकरणात्) प्रकरण से।

व्याख्या—इष्टियों के लिये अग्न्याधान है। किस हेतु से? प्रकरण से। उन (=पवमान आदि इष्टियों) के प्रकरण में अग्न्याधान सुना जाता है। इस कारण उन के लिये है।

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थ.—(न वा) 'न वा' यह निपात समुदाय पूर्व पक्ष '**इष्टयर्थ अग्न्याधान है**' की

---

१. तै० सं० २।२।४।२॥ 'सूक्ष्मम्' इति मुद्रितेऽपपाठः।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। तै० ब्रा० १।१।२।६॥

पवमानेष्टयो हि अग्न्यर्थाः । यदि अग्निरिष्टयर्थः स्यात्, ततस्तदर्थमग्न्याधेय-मिष्टीनामुपकुर्य्यात् । निष्फलास्तु इष्टयः । तदर्थमग्न्याधेयमपि निष्फलं स्यात् । कथं पुनरग्न्यर्थता पवमानेष्टीनाम् ? निष्प्रयोजनत्वादेव, प्रयोजनवत्त्वाच्चाग्नीनाम् । भाव-यितव्या अपि इष्टयो भूतानामग्नीनामर्थेन क्रियेरन् । तस्मादग्न्याधेयं न पवमाने-ष्टयर्थम् ॥ १२ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १३ ॥

लिङ्गं दर्शयति यथा अग्न्यर्थाः पवमानेष्टय इति । किं लिङ्गम् । **जीर्य्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः, तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि संवत्सरे [संवत्सरे] निर्वपेत् । तेन वा एष न जीर्यति । तेनैनं पुनर्नवं करोति तन्न सूक्ष्यम्**[1] इति ॥ १३ ॥ **आधानस्य पवमानेष्टय-नङ्गताधिकरणम् ॥ ४ ॥**

—:०:—

निवृत्ति के लिये है। (तासाम्) उन पवमानादि इष्टियों के (तदर्थत्वात्) उस अग्न्याधेय के लिये होने से ।

व्याख्या—पवमान आदि इष्टियां ही अग्नियों के लिये हैं। । यदि अग्न्याधान इष्टिय के लिये होवे तो उन के लिये होनेवाला अग्न्याधेय इष्टियों का उपकार करे । इष्टियां तो निष्फल है अर्थात् उनका कोई फल नहीं कहा है। [इस अवस्था में निष्फल] इष्टियों के लिये होनेवाला अग्न्याधेय भी निष्फल होवे । फिर कैसे इष्टियों की अग्न्याधानार्थता है ? निष्प्रयोजन होने से ही और अग्नियों के प्रयोजनवान् होने से । भावयितव्य (= उत्तरकाल में की जाने वाली) इष्टियां भी भूत अग्नियों के लिये की जाती हैं । इसलिये अग्न्याधेय पवमान आदि इष्टियों के लिये नहीं है ।

विवरण—भावयितव्या — भूतानामग्नीनाम्—अग्न्याधान कर्म में पहले तीनों अग्नियों का आधान हो जाता है, तदनन्तर पवमान आदि इष्टियां की जाती हैं ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से भी (च) पवमानेष्टियां अग्नियों के लिये हैं।[1]

व्याख्या—जैसे पवमानेष्टियां अग्नियों के लिये है इसे लिङ्ग दर्शाता है। लिङ्ग क्या है ? जीर्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि संवत्सरे [संवत्सरे] निर्वपेत् । तेन वा एष न जीर्यति तेनैनं पुनर्नवं करोति तन्न सूक्ष्यम् (= यह आहि पशु जो अग्नि है, वह निश्चय ही जीर्ण होता है। इन्हीं अग्न्याधेय की हवियों का प्रतिसंवत्सर निर्वाप करे । उस से यह जीर्ण नहीं होता है। इस को पुनः नवीन करता है। इस का अनादर न करे)।

---

१. मै० सं० १।५।६॥

[आधानस्य सर्वार्थताधिकरणम् ॥५।]

तदेतदाधानं किं प्रकृत्यर्थम् उत सर्वकर्मार्थमिति सन्देहः। किं प्राप्तम्? उच्यते—

तत्प्रकृत्यर्थं यथाऽन्येऽनारभ्यवादाः ।१४॥ (पू०)

तत् प्रकृत्यर्थम्। कथम्? यथाऽन्ये अनारभ्यवादाः प्रकृत्यर्थाः, तेनैव हेतुना ।१४।

सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥१५। (उ०)

सर्वकर्मार्थं वाऽऽधानम्। कोऽर्थः? सर्वकर्मार्थं यदग्निद्रव्यं, तदर्थमाधानम्, न प्रकृत्यर्थम्। प्रकृतीः प्रकृत्य श्रूयते। न च श्रुत्यादयोऽस्य सन्ति, येऽङ्गभावमुपपादयन्ति। अन्येष्वनारभ्यवादेष्वन्यतो निर्ज्ञातेऽङ्गभावे ततो विचारः—किं प्रकृतेरङ्गभूतानि विकृते-

---

विवरण—तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि—इस से पवमानेष्टियों की हवियों की अग्न्याधेयता कही है। **न सूक्ष्यम्—सूक्ष्य अनादरे**। घञ्। अनादरं न कुर्याद् इत्यर्थः।

—:०:—

व्याख्या—**जो यह अग्नि का आधान है क्या वह प्रकृति (=दर्शपूर्णमास) के लिये है अथवा सब कर्मों के लिये? यह सन्देह होता है। क्या प्राप्त होता है? इस विषय में कहते हैं—**

तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः ॥१४॥

सूत्रार्थः—(तत्प्रकृत्यर्थम्) वह आधान प्रकृति=दर्शपूर्णमास के लिये है। (यथा) जैसे (अन्ये) अन्य (अनारभ्यवादाः) अनारभ्य=प्रकरण विशेष का आरम्भ न करके कहे गये वाद=कथन हैं।

व्याख्या—**वह आधान प्रकृति के लिये है। कैसे? जैसे अन्य अनारभ्यवाद प्रकृति के लिये हैं। उसी हेतु से॥**

सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'आधान प्रकृति के लिये है' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (सर्वार्थम्) आधान सभी प्रकृति विकृति कर्मों के लिये है। (आधानस्य) अग्न्याधान के (स्वकालत्वात्) अपने काल वाला होने से अर्थात् आधान का अपने स्वतन्त्र काल का विधान होने से।

व्याख्या—**आधान सब कर्मों के लिये है। इसका क्या अभिप्राय है? सब कर्मों के लिये जो अग्नि द्रव्य है उस [की सिद्धि] के लिये आधान है, प्रकृति के लिये नहीं है। प्रकृतियों का आरम्भ करके आधान नहीं सुना जाता है। और इसके श्रुति आदि कारण भी नहीं हैं, जो इस के अङ्गभावत्व का उपपादन (=कथन) करते हैं। अन्य अनारभ्यवादों में अन्य हेतु से अङ्गभाव के ज्ञात होने पर विचार होता है कि क्या प्रकृति के अङ्गभूत हैं अथवा विकृति के। इस लिये उन**

रिति ? तस्मात् तेषु युक्तम् । इह त्वङ्गभावे न कारणमस्ति । तस्मादग्निप्रयुक्तमाधानम्, न कर्म्मप्रयुक्तम् । सर्वकर्मार्था अग्नय इति सर्वार्थमित्युच्यते । अपि चास्य स्वतः कालो विधीयते, स न विधातव्यः । यदा ज्योतिष्टोमस्य प्रयोगस्तदा इदं कर्त्तव्यम् । तदा च वसन्तः । एवं यदा दर्शपूर्णमासयोः प्रयोगः, तदा कर्त्तव्यम् । तदा पौर्णमासी अमावास्या वा । अप्रकृत्यर्थन्तु न प्रकृतिप्रयोगे क्रियेत, तत्र कालवचनं युक्तम् । तस्मान्न प्रकृत्यर्थम् ॥१५॥ आधानस्य सर्वार्थताऽधिकरणम् ॥५॥

—:०:—

[अनारभ्यवादों] में [प्रकृत्यर्थता] युक्त है । यहां (=आधान विषय में) तो अङ्गभाव में कोई कारण नहीं है । इस लिये आधान अग्नि से प्रयुक्त है [अर्थात् अग्नियों की सिद्धि कैसे की जाये, इस के लिये आधान का विधान है], कर्म से प्रयुक्त आधान नहीं है । अग्नियां सब कर्मों के लिये हैं । इस लिये [आधान] सर्वार्थ है, ऐसा कहते हैं । और भी, इसका काल अपना विहित है, [प्रकृत्यर्थमानने पर] वह विधान करने योग्य नहीं है । [आधान को अङ्ग मानने पर] जब ज्योतिष्टोम का प्रयोग होवे तब इसे (=आधान को) करना चाहिये । उस समय वसन्त ऋतु है। [अतः आधान का काल प्राप्त ही है, विधान करने का क्या प्रयोजन ?] इसी प्रकार जब दर्शपूर्णमास का प्रयोग होवे तब [आधान] करना चाहिये । उस समय पौर्णमासी वा अमावास्या हैं ही । [आधान के] प्रकृति के लिये न होने पर तो प्रकृति के प्रयोग में नहीं किया जायेगा। वहां (=आधान को अप्रकृत्यर्थ मानने पर) काल का कथन युक्त है । इसलिये आधान प्रकृति के लिये नहीं है ।

विवरण—स्वतः कालो विधीयते—'स्वतः' का अर्थ है 'स्वस्य' अपना आधान काल विहित है। यहां **तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्** (महा० ५।४।४४) इस वार्तिक से 'तसि' प्रत्यय जानना चाहिये । यह वार्तिक-विहित तसि सब विभक्त्यन्तों से होता है। कतिपय वैयाकरणों का मत है कि यह तसि सब विभक्त्यन्तों से नहीं होता है जहां-जहां शिष्ट प्रयोग उपलब्ध हो वहीं जानना चाहिये (द्र०—गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३, इटावा, संस्करण)। वह काल है—**वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः** । द्र०—शाबरभाष्य २।३, अधि० ३ सूत्र ४ । **स न विधातव्यः**—यहां **प्रकृत्यर्थत्वे सति** इतना शेष जानना चाहिये। **यदा ज्योतिष्टोमस्य प्रयोगः**—श्रौत यज्ञों में तीन प्रकृति कर्म माने गये हैं—हविर्यज्ञों का दर्शपूर्णमास, सोमयज्ञों का अग्निष्टोम और पशुयागों का अग्निषोमीय[1] पशु । इसलिये सोमयागों की प्रकृतिभूत कर्म का यहां निर्देश किया है । **तदा इदं कर्तव्यम्**—यहां तदङ्गत्वात् ऐसा शेष जानना अर्थात् प्रकृति का अङ्ग होने पर ज्योतिष्टोम के प्रयोग काल में इस आधान को करना चाहिये। **तदा च वसन्तः**—यहां भी **अत आधानस्य कालः प्राप्त एव किं वसन्तकालविधानेन** ऐसा शेष जानना

१. श्रौतसूत्रकारों ने संहिता तथा ब्राह्मण में अग्निषोमीय पशु के प्रकरण में विहित सामान्य कर्मों का विधान 'पशुबन्ध' में किया है । अतः उनके मतानुसार पशुबन्ध पशुयागों की प्रकृति है।

[पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्तव्यताधिकरणम् ।। ६ ।।]

सन्ति पवमानेष्टयः—'अग्नये पवनमानाय' इत्येवमाद्याः। तत्र सन्देहः—किं पवमानेष्टिसंस्कृतेऽग्नौ पवमानेष्टयः कर्त्तव्याः, उत नेति ? किं प्राप्तम् ?

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात् ॥ १६ ॥ (पू०)

चाहिये। इसी प्रकार आधान का काल अमावास्या वा पौर्णमासी विहित है। इस दृष्टि से भाष्यकार कहते हैं—**एवं यदा दर्शपौर्णमासयोः प्रयोगः। तदा पौर्णमासी अमावास्या वा**— यहां भी **किमाधानस्यामावस्यायाः पौर्णमास्याश्च विधानेन** इतना शेष जानना चाहिये। **अप्रकृत्यर्थ** तु यह **'असूर्यंपश्या' राजदाराः** आदि के समान असमर्थ समास है।

विशेष—सूत्रकार ने **स्वकालत्वात्** से अग्न्याधान के ब्राह्मणादि भेद से जो भिन्न-भिन्न काल कहे हैं, उन सब की ओर निर्देश किया है। भाष्यकार ने ज्योतिष्टोम का जो निर्देश किया है। वह एकाङ्गी है। **वसन्ते-वसन्ते ज्योतिषा यजेत** से ज्योतिष्टोम का वसन्त ऋतु काल ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सब के लिये समान रूप से निर्धारित है। परन्तु अग्न्याधान का वसन्त ऋतु काल केवल ब्राह्मण का ही है। इतना ही नहीं, ज्योतिष्टोम पूर्वक ही दर्शपूर्णमास आदि होने चाहियें, यह आवश्यक नहीं है। इस कारण जो व्यक्ति ज्योतिष्टोम से उपक्रम न करके दर्शपूर्णमास से उपक्रम करेगा उसके यहां वसन्त ऋतु भी प्राप्त नहीं है। अतः भाष्यकार का ज्योतिष्टोम आदि के निदर्शन द्वारा समाधान प्रस्तुत करना चिन्त्य है। इस विषय में भट्ट कुमारिल की व्याख्या भी द्रष्टव्य है ।।१५।।

—:०:—

व्याख्या—[आधान में] अग्नये पवमानाय **इत्यादि पवमानादि इष्टियां है। उन पवमानादि इष्टियों में सन्देह है—क्या पवमानेष्टि से संस्कृत अग्नि में पवमानादि इष्टियां करनी चाहियें अथवा नहीं ? क्या प्राप्त होता है ?**

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात् ।।१६।।

सूत्रार्थः—(तासाम्) उन पवमान आदि इष्टियों का (अग्निः) अग्नि (प्रकृतितः) प्रकृति से अतिदेश वचन से प्राप्त होगा (प्रयाजवत्) प्रयाजों के समान।

सूत्र का भाव यह है कि पवमानादि इष्टियां विकृतियाग हैं। इन में धर्मों वा क्रियाकलाप

---

१. द्र०—मै० सं० १।६।८।। अत्राधानप्रकरणे 'अग्नये पवमानाय,' 'अग्नये पावकाय,' 'अग्नये' शुचये' त्रीणि हवींष्युक्तानि। प्रायेणमूलस्थान निर्देशकाः तै० संहितायाः २ २।४ स्थलं निदर्शयन्ति। तदसाधु। अत्र हि तै० संहितायां काम्येष्टय उक्ताः। अत्रः तु 'अग्नये पवमानाय' 'अग्नये पावकाय' 'अग्नये शुचये' इति दीर्घरोगयुक्ताय हविस्त्रयमुक्तम्। द्र० तै० सं० सायणभाष्ये २।२।१२ अनुवाकारम्भे सप्तदशः श्लोकः।

तासां खलु पवमानेष्टीनां पवमानेष्टिसंस्कृतोऽग्निः प्रकृतितः स्यात् । कुतः ? चोदकसामर्थ्यात्, प्रयाजवत् । यथा आसु प्रयाजा भवन्ति चोदकेन, एवं पवमानेष्टिसंस्कृता अग्नयोऽपि भवेयुः ॥ १६ ॥

न वा तासां तदर्थत्वात् ।१७॥ (उ०)

न वा इष्टिसंस्कारोऽग्नीनां पवमानेष्टिषु स्यात् । कस्मात् ? तासां तदर्थत्वात्। ताः पवमानेष्टयोऽग्निसंस्कारार्था इत्युक्तम् । यच्च नामाङ्गभूतं तच्चोदकेन गृह्यते । अग्निप्रयुक्तश्च पवमानेष्टिसंस्कारः, न दर्शपूर्णमासप्रयुक्तः । तेन न चोदकेनाकृष्यते । अपि च, पवमानेष्टय इष्टिसंस्कारवर्जितां प्रकृतिमपेक्षन्ते । अविहितत्वात् तस्यामवस्थायां पवमानेष्टीनाम् ॥१७॥ **पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्तव्यताधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

की प्राप्ति **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** अतिदेश द्वारा जैसे प्रयाज आदि की उपस्थिति होती है, उसी प्रकार होमार्थ अग्नियों की भी उपस्थिति होगी । प्रकृति = दर्शपूर्णमास में अग्नियां पवमानादि इष्टियों से संस्कृत हैं, अतः आधानकदेश पवमानादि इष्टियों में भी अग्नियां पवमानादि इष्टियों से संस्कृत ही प्राप्त होंगी । इसलिये पवमानादि विकृतियों में भी सम्प्राप्त अग्नियां पवमानादि इष्टियों से संस्कृत ही होनी चाहियें ।

व्याख्या—**उन पवमानेष्टियों का पवमानेष्टि संस्कृत अग्नि ही प्रकृति से होगा । किस हेतु से । चोदक(=अतिदेश) वचन के सामर्थ्य से प्रयाजों के समान । जैसे इन पवमानेष्टियों में चोदकवचन से प्रयाजों की सम्प्राप्ति होती है उसी प्रकार पवमानेष्टि संस्कृत अग्नियां भी प्राप्त होवें।।१६।।**

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(न वा) यह शब्द द्वय पूर्व उक्त 'पवमानेष्टियों में पवमानेष्टि संस्कृत अग्नियां होवें' पक्ष के निराकरण के लिये है । (तासाम्) उन पवमानेष्टियों के (तदर्थत्वात्) अग्नियों के संस्कारार्थ होने से ।

व्याख्या - **पवमानेष्टियों में अग्नियों का इष्टिसंस्कार न होवे । किस हेतु से ? उन इष्टियों के अग्नियों के संस्कारार्थ होने से । वे पवमान आदि इष्टियां अग्नियों के संस्कारार्थ हैं यह कह चुके । और जो अङ्गभूत होता है वह चोदक वचन से ग्रहण किया जाता है । पवमान इष्टियों से संस्कार अग्निप्रयुक्त है [अर्थात् अग्नियों को संस्कृत करने के लिये है] दर्शपूर्णमास से प्रयुक्त [पवमानेष्टि संस्कार] नहीं है । इस कारण [यह पवमानेष्टि संस्कार] चोदकवचन से आकृष्ट नहीं होता है । और भी, पवमानेष्टियां [पवमान] इष्टिसंस्कार से रहित प्रकृति की अपेक्षा करती हैं, उस अवस्था में पवमानेष्टियों के विहित न होने से ॥ १७ ॥**

—:०:—

[उपाकरणादीनामग्नीषोमीयताधिकरणम् ॥७॥

ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः - **यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**[1] इति, तथा सवनीयोऽनुबन्ध्यश्च । सन्ति च पशुधर्म्माः—उपाकरणम्, उपानयनम्, अक्ष्णया बन्धः, यूपे नियोजनम्, संज्ञपनं, विशसनमित्येवमादयः । ते किं सर्वेषामग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यानामुत अग्नीषोमीयस्य सवनीयस्य वा, उताग्नीषोमीयस्यैवेति ? किं प्राप्तम् ?[2]

व्याख्या - **ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु विहित है**— यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते (=**जो सोमयाग में दीक्षित जिस अग्नि और सोम देवतावाले पशु का आलभन करता है**) **तथा सवनीय और अनुबन्ध्या पशु** विहित है । **और पशुओं के धर्म** विहित हैं—**उपाकरण, उपानयन, अक्ष्णा से** बांधना, **यूप में नियोजन, संज्ञपन और विशसन आदि** (**व्याख्या विवरण में देखें**) **क्या ये** पशुधर्म **सभी अग्नीषोमीय सवनीय और अनुबन्ध्या के हैं अथवा अग्नीषोमीय और सवनीय के अथवा अग्नीषोमीय के ही हैं ? क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण - **ज्योतिष्टोमे** —ज्योतिष्टोम क्रतु ६ दिन साध्य है । **एका दीक्षा, तिस्र उपसदः सुत्याऽवभृथं च** —प्रथम दिन दीक्षणीयेष्टि, तीन दिन उपसद् इष्टियां, १ दिन सोमाभिषव= सोमयाग और छठे दिन अवभृथेष्टि । **अग्निषोमीयं पशुम्**—सोमयाग में अग्नि और सोम देवता वाले पशु का विधान प्रायणीय दिन (=जिस दिन प्रायणीयेष्टि की जाती है । अर्थात द्वितीय दिन) सोमक्रय के समीप किया है । तथा औपवसथ्य अह (=सुत्या से पूर्व दिन अर्थात् चतुर्थ दिन इस का अनुष्ठान होता है । **सवनीय पशु** —इस का विधान चतुर्थ दिन में है और अनुष्ठान सुत्या के दिन अर्थात् पांचवें दिन होता है । **अनुबन्ध्या पशु** --इस का विधान छठे दिन अवभृथेष्टि के पश्चात् उदयनीयेष्टि के अनन्तर मिलता है— **मैत्रावरुणीं वशामनुबन्ध्यामालभते** । और उसी दिन अनुष्ठान होता है ।

पशुधर्माः—उपाकरणम्—मन्त्रपूर्वक पशु को छूना उपाकरण कहाता है (मीमांसाश्रौत कोष, पृष्ठ **१२१४**) किन्हीं के मत में मन्त्रपूर्वक दो कुशाओं से छूना उपाकरण कहाता है द्र० श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृष्ठ १२७, संख्या ४७) । **उपानयनम्**—पशु को यूप के समीप ले जाना । **अक्षणया बन्धः** पशु के पूर्वभाग के दक्षिणपाद में और आधे सिर में पाश बांधना (मी०

---

१. तै० सं० ६।१।११॥

२. अत्र चत्वारः पक्षाः—सर्वेषां पशूनां तुल्या धर्मा इत्येकः पक्षः । सवनीयस्यैवेति द्वितीयः । सवनीयस्याग्नीषोमीयस्य चेति तृतीयः । अग्नीषोमीयस्यैवेति चतुर्थः । तत्र **तुल्यः सर्वेषाम्** इत्यादि सूत्रं प्रथमपक्षे यथाक्षरं समन्वेति । इदमेव च अध्याहारेण व्याख्याभेदेन द्वितीयपक्षे भाष्यकारेण व्याख्यातम् । वार्तिककारस्तु प्रथमं पक्षं सूत्ररहितं मेने । अस्मन्मते तु सूत्रमिदं प्रथमपक्षस्यैव । द्वितीयपक्षस्य तु **'प्रकरणविशेषात्तु सवनीयस्य'** इति सूत्रं विलुप्तम् । तृतीयपक्षस्योत्तरं **(१९ तमं) सूत्रम्** । **चतुर्थस्य** सिद्धान्तपक्षस्य तदुत्तरं **(२० तमं)** सूत्रम् ।

[तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥१८॥ पू०]

अविशेषात् सर्वपशूनाम् । कथमविशेष: ? ज्योतिष्टोमप्रकरणे सर्वे पशवः समाम्नाताः । तत्प्रकरणापन्नत्वात् सर्वे पशुधर्मैः सम्बद्ध्यन्ते । न चैषां तत्र कश्चिद्विशेषः ।

श्रौत कोष०, पृष्ठ १२) । **यूपे नियोजनम्**—रस्सी से पशु को यूप में बांधना । **संज्ञपनम्**—मुख नासिका आदि बन्द करके पशु को मारना । **विशसनम्**—पशु को काटना । इन पशुधर्मों का विधान सवनीय पशु के प्रकरण में चौथे दिन किया है ।

विशेष—इस प्रकरण में तथा अन्यत्र भी जैमिनीय सूत्रों में ऐसी झलक मिलती है (भाष्यादि में तो स्पष्ट है) जिस से यज्ञों में पशु मारकर उसके अङ्गों से आहुतियां दी जाती हैं। मीमांसा सूत्र के आधारभूत ग्रन्थ शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थानों पर इनका स्पष्ट विधान मिलता है । यह सब श्रौत्तरकालिक है । आरम्भ में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी, पर्यग्निकरण के पश्चात् पशु का उत्सर्ग कर दिया जाता था । यह हम अनेक प्रमाणों से इस मीमांसा व्याख्या के प्रथम भाग के आरम्भ में लिखित 'श्रौत-यज्ञ मीमांसा' निबन्ध में भले प्रकार स्पष्ट कर चुके हैं । अतः उस पर बार-बार नहीं लिखा जायेगा । शाबरभाष्य की व्याख्या मात्र की जायेगी ।

[तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण के विशेष=भेदक न होने से अर्थात् ज्योतिष्टोमरूप सामान्य प्रकरण होने से (पशुविधिः) पशुधर्मों का विधान (सर्वेषाम्) सभी पशुओं का (तुल्यः) तुल्य=समान है ।

विशेष—इस प्रकरण में चार पक्ष हैं—(१) पशुधर्म सभी पशुओं के हैं । (२) सवनीय पशु के ही हैं, (३) सवनीय और अग्नीषोमीय दोनों के हैं, (४) अग्नीषोमीय के हीं हैं (यह सिद्धान्त पक्ष है) । इन में प्रथम पक्ष सूत्र के यथाक्षर व्याख्यान के अनुरूप है । द्वितीय पक्ष भाष्यकार ने अध्याहार द्वारा सूत्र की व्याख्या भेद करके दर्शाया है । तृतीय पक्ष १९वें सूत्र से कहा है और चौथा २०वें सूत्र से ।

भट्ट कुमारिल ने प्रथम पक्ष को सूत्र से बाहर माना है । परन्तु सूत्र के यथापठित अक्षरों से परिज्ञायमान पक्ष को सूत्र से बाहर=विना सूत्र का मानना हमें युक्त प्रतीत नहीं होता है । द्वितीय पक्ष में भाष्यकार ने अध्याहार से अर्थान्तर की कल्पना की है । (द्र० आगे) । हमारे विचार में द्वितीय पक्ष का **'प्रकरणविशेषात्तु सवनीयस्य'** सूत्र त्रुटित हो गया है । इसी कारण सभी मीमांसकों को क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है ।

व्याख्या—विशेष का निर्देश न होने से सब पशुओं के धर्म हैं । विशेष का अभाव कैसे है ? ज्योतिष्टोम के प्रकरण में सब पशुओं का पाठ किया है । उस (=ज्योतिष्टोम) प्रकरण को प्राप्त होने से सब पशु पशुधर्मों से सम्बद्ध होते हैं । और वहां इनका कोई विशेष (=भेदक) नहीं है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥१८॥ (पू०)

सवनीयस्यैते धर्म्मा भवेयुः। तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः स्याद्, यदि प्रकरणे विशेषो न भवेत्। भवति तु प्रकरणे विशेषः। सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्म्माः समाम्नाताः— **आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आलभ्यः। आग्नेयो हि अग्निष्टोमः। ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्ये आलभ्यः। ऐन्द्राग्नानि हि उक्थ्यानि। ऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिनि आलभ्यः। ऐन्द्रो वै वृष्णिः ऐन्द्रः षोडशी। सारस्वती मेषी अतिरात्रे आलभ्या। वाग् वै सरस्वती**[1] इति प्रकृत्य पशुधर्म्मा **आम्नाताः।** तस्मात् सवनीयस्य प्रकरणाद् भवितुमर्हति[2] ॥१८॥

स्थानाच्च पूर्वस्य ॥१९॥ (पू०)

व्याख्या—**ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(पशुविधिः) उपाकरणादि पशुधर्मों का विधान (सर्वेषाम्) सब पशुओं का (तुल्यः) समान होवे (प्रकरणाविशेषात्) यदि प्रकरण का विशेष न होवे। प्रकरण का विशेष देखा जाता है। सवनीय पशुओं के प्रकरण में पशुधर्मों का विधान होने से सवनीय पशु के हैं।

व्याख्या—**सवनीय पशु के ही ये धर्म होवें। सब पशुओं की पशुधर्मों की विधि समान होवे यदि प्रकरण में विशेष न होवे। प्रकरण में विशेष होता है सवनीय पशु के प्रकरण में पशुधर्मों का विधान किया है।** आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आलभ्यः। आग्नेयो हि अग्निष्टोमः (=**अग्निष्टोम संस्था में आग्नेय पशु आलभ्य है, क्योंकि आग्नेय ही अग्निष्टोम है**)। ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्ये आलभ्यः। ऐन्द्राग्नानि ही उक्थ्यानि (=**उक्थ संस्था में ऐन्द्राग्न पशु आलभ्य है क्योंकि ऐन्द्राग्न ही उक्थ्य हैं**)। ऐन्द्रः वृष्णि षोडशिनि आलभ्यः। ऐन्द्रो वै वृष्णिः ऐन्द्रः षोडशी (=**षोडशी संस्था में ऐन्द्र वृष्णि=मेढ़ा आलभ्य है। ऐन्द्र ही वृष्णि है, ऐन्द्र षोडशी है**)। सारस्वती मेषी अतिरात्र आलभ्या। वाग्वै सरस्वती (=**अतिरात्र संस्था में सरस्वती देवतावाली मेषी=मेढी आलभ्य है। वाक् ही सरस्वती है**) **इत्यादि कह कर पशुधर्मों का कथन किया है। इस कारण प्रकरण से सवनीय के धर्म होने योग्य हैं॥ १८॥**

स्थानाच्च पूर्वस्य ॥१९॥

सूत्रार्थः—(स्थानात्) स्थान प्रमाण से (पूर्वस्य) पूर्व अग्नीषोमीय के (च) भी उपाकरणादि धर्म हैं।

विशेष—इस सूत्र में चकार अस्थान में पठित अर्थात् भिन्नक्रम है। **स्थानात् पूर्वस्य च** ऐसा सूत्र अपेक्षित है। पाणिनीय व्याकरण के अष्टाध्यायी और धातु पाठ में भी जहां-जहां चकार

---

१. मै० सं० ३।९।५॥ २. 'अर्हति' इति सार्वत्रिकः पाठः। 'अर्हन्ति' इति तु युक्तम्।

यदुक्तं प्रकरणात् सवनीयार्था इति । एतद् गृह्णीमः । क्रमात्त्वाग्नीषोमीयस्य । तस्य हि क्रमे औपवसथ्ये अहनि समाम्नातम् । तस्माद् द्वयोरपीति ॥१९॥

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था ॥२०॥ (उ०)

एकेषां शाखिनां श्वः सवनीयानामाम्नानम् । तदपेक्ष्य इयमेषां गुणार्था पुनः श्रुतिः । कः पुनर्गुणो यदर्थैषा श्रुतिः ? उच्यते । पशून् सङ्कीर्त्य यथा वै मत्स्योऽविदितो

भिन्नक्रम पठित है उस का कारण छन्दोऽनुरोध है । यथा—**पक्षीमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति** (अष्टा० ४।४।३५-३६) यह अनुष्टुप् के दो चरण हैं । **चते चदे च याचने** (क्षीरतरङ्गिणी १।६०८) **लाज लाजि च भर्त्सने** (धातुप्रदीप पृष्ठ २५) । ये दोनों भी अनुष्टुप् के एक-एक चरण हैं । दोनों ही ग्रन्थों में बहुत्र छन्दोबद्ध सूत्र उपलब्ध हैं । इनका पाणिनि ने किसी प्राचीन छन्दोबद्ध ग्रन्थ से संकलन किया है (इस विषय में विशेष द्रष्टव्य हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ २३० - २३५; द्वितीय भाग पृष्ठ ७२-७५) । सम्भव है प्रकृत सूत्र भी जैमिनि ने किसी प्राचीन श्लोकबद्ध शास्त्र से यथातथ उद्धृत कर लिया हो । अन्यथा चकार का प्रयोग अस्थान में न होता ।

व्याख्या - **जो यह कहा है कि प्रकरण के अनुरोध से पशुधर्म सवनीय पशु के लिये हैं । इसे हम स्वीकार करते हैं । परन्तु क्रम (=स्थान) से अग्नीषोमीय के भी हैं । उस अग्नीषोमीय के अनुष्ठानक्रम औपवसथ्य दिन (=सुत्या से पूर्व दिन) में आम्नात है । इसलिये सवनीय और अग्नीषोमीय दोनों के धर्म हैं ।**

विवरण—तस्य हि क्रमे औपवसथ्ये अहनि—स एष उपवसथीयेऽहन् द्विदेवत्यः पशुरालभ्यते (=वह यह दो देवतावाला अग्नीषोमीय पशु उपवसथ (=चौथे) दिन आलम्भन किया जाता है) सवनीय पशु के विधान के क्रम में पशुधर्मों का उल्लेख होने से सवनीय के और उसी दिन अग्नीषोमीय का अनुष्ठान होने से अग्नीषोमीय के भी उपाकरणादि धर्म हैं ॥१९॥

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था ॥२०॥

सूत्रार्थः—(एकेषाम्) किन्हीं शाखावालों की शाखा में (श्वः) औपवसथ्य चतुर्थ दिन के अगले सुत्या के दिन सवनीय पशुओं का विधान है (तत्र) उन के यहां (प्राक् श्रुतिः) पहले चतुर्थ दिन पढ़ी गई श्रुति (गुणार्था) गुण कथन=अङ्ग—विधान के लिये है ।

व्याख्या—**किन्हीं शाखावालों की शाखा में [औपवसथ्य चतुर्थ दिन के] अगले सुत्या के दिन सवनीय पशुओं का पाठ है । उसकी अपेक्षा करके यह** (=आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आलभ्यः आदि) **सवनीय पशुओं के गुण के लिये पुनः श्रुति (=कथन) है । वह कौन सा गुण है जिस के लिये यह श्रुति है ? कहते हैं—**[आग्नेयः पशुरग्निष्टोम आलभ्यः **इत्यादि से**] **पशुओं का संकीर्तन (=कथन) करके** यथा वै मत्स्योऽविदितो **जनमवधूनुते एवं वा एते**

जनमवधून्वते[1], एवं वा एते अप्रज्ञायमाना जनमवधून्वते[2] इति एषामविज्ञाने दोषमभिधाय, एभिः कथं सवनानि पशुमन्ति इति[3] प्रश्नरूपकेण वपाप्रचारो गुणो विधीयते[3]। तदर्थैषा श्रुतिः। वपाप्रचारेणैकवाक्यत्वात्। किमतो यद्येवम्? न सवनीयानां प्रकरणेन पशुधर्म्माः, क्रमादग्नीषोमीयार्था एवेति। किं पुनस्तत् स्व आम्नानम्? आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति[4] इति ॥२०॥

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०)

नैनदस्ति क्रमादग्नीषोमीयार्था ऐवेति। प्रकरणात् सवनीयाऽर्थाः। पूर्वेद्युरेवाम्नानं

अप्रज्ञायमाना जनमवधून्वते (=जैसे मछली जल में छिपी अज्ञात होती हुई मछली पकड़ने-वाले मनुष्य को धुनती है =पीड़ित करती है उसी प्रकार ये पशु भी अप्रतीयमान =इनका कहां, कैसे अनुष्ठान करना अज्ञात होते हुए यज्ञकर्ता को धुनते हैं=पीड़ित करते हैं) से इन के अनुष्ठान के न जानने में दोष का कथन करके एभिः कथं सवनानि पशुमन्ति (=इन पशुओं से कैसे तीनों सवन पशु से युक्त होते हैं) ऐसा प्रश्नरूप से वपा-प्रचाररूप गुण का विधान किया जाता है। [अर्थात् वपया प्रातः सवने प्रचरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने अङ्गैस्तृतीये सवने (=वपा से प्रातः सवन में होम करते, पुराडाश से माध्यन्दिन सवन में और अङ्गों से तृतीय सवन में) वाक्य से गुण का विधान किया है]। इस गुणविधान के लिये यह (=आग्नेयः पशुरग्नि-ष्टोम आलभ्यः आदि) श्रुति है वपाप्रचार के साथ एक वाक्य होने से। इस से क्या यदि ऐसा है? प्रकरण से सवनीय पशुओं के पशुधर्म आम्नात नहीं हैं [क्योंकि सवनीय पशुओं की उत्पत्ति आगे पठित आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा आदि वाक्य से सुत्या के दिन है]। क्रम (=स्थान) से अग्नीषोमीय पशु के लिये ही पशुधर्म है [क्योंकि अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान चतुर्थ दिन होता है, और पशुधर्म भी चतुर्थ दिन में पढ़े गये हैं; अतः वे अग्नीषोमीय पशु के ही हैं]। वह अगले (=सुत्या) दिन का पाठ क्या है—आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति (=आश्विन ग्रह का ग्रहण करके तीन लड़वाली रस्सी से यूप को लपेट कर आग्नेय सवनीय पशु को करता है) ॥ २० ॥

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थः—चतुर्थ दिन विहित सवनीय पशु की (तेन) वपा-प्रचार से (उत्कृष्टस्य) पांचवें दिन उत्कर्ष किये हुए की (कालविधिः) आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा वचन से अनुष्ठान के काल की विधि होवे तो।

व्याख्या—यह नहीं है कि क्रम से अग्नीषोमीय के लिये ही पशुधर्म हैं। प्रकरण से सवनीय

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्रष्टव्या मै० सं० ३।९।५॥ अत्र 'एते प्रजायमानाः' इति स्वपपाठोऽर्थानुपपत्तेः। २. मै० सं० ३।९।५॥ ३. वपया प्रातः सवने प्रचरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने अङ्गैस्तृतीये सवने। द्र० मै० सं० ३।९।५॥

४. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—शत० ४।२।४।१२; आप० श्रौत १२।१८।१२॥